तृतीय संस्करण

यह पुस्तक का तृतीय संस्करण है। लेखिका को हर्ष है कि पुस्तक जिन छात्राओं के लिये लिखी गई थी उनके लिये उपयोगी सिद्ध हुई है। प्रस्तुत संस्करण में कई स्थानों पर आवश्यक परिवर्द्धन किए गए हैं। लेखिका का विश्वास है कि यह परिवर्द्धित संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रयाग
२० मई, १९५४

रानी टंडन

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

यह पुस्तक का चतुर्थ संस्करण है। लेखिका को हर्ष है कि पुस्तक जिन छात्राओं के लिये लिखी गई थी उनके लिये उपयोगी सिद्ध हुई। इस संस्करण में नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार संशोधन किए गये हैं। अध्याय सात व आठ अब हाईस्कूल परीक्षा के पाठ्यक्रम में नहीं हैं फिर भी इन्हें पुस्तक से निकाला नहीं गया है। इनका साधारण ज्ञान दूसरे विषयों को समझने में सहायक होगा, किन्तु परीक्षा की दृष्टि से अध्ययन करते समय छात्रायें इन्हें छोड़ सकती हैं।

आशा है प्रस्तुत संस्करण भी छात्र व अध्यापक गण के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रयाग
१० जुलाई १९५५

रानी टंडन

तृतीय संस्करण

यह पुस्तक का तृतीय सस्करण है। लेखिका को हर्ष है कि पुस्तक जिन छात्राओं के लिये लिखी गई थी उनके लिये उपयोगी सिद्ध हुई है। प्रस्तुत सस्करण में कई स्थानों पर आवश्यक परिवर्द्धन किए गए हैं। लेखिका का विश्वास है कि यह परिवर्द्धित सस्करण अधिक उपोयोगी सिद्ध होगा।

प्रयाग
२० मई, १९५४ } रानी टंडन

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

यह पुस्तक का चतुर्थ सस्करण है। लेखिका को हर्ष है कि पुस्तक जिन छात्राओं के लिये लिखी गई थी उनके लिये उपयोगी सिद्ध हुई। इस सस्करण में नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार सशोधन किए गये हैं। अध्याय सात व आठ अब हाईस्कूल परीक्षा के पाठ्यक्रम में नहीं हैं फिर भी इन्हें पुस्तक से निकाला नहीं गया है। इनका साधारण ज्ञान दूसरे विषयों को समझने में सहायक होगा, किन्तु परीक्षा की दृष्टि से अध्ययन करते समय छात्रायें इन्हें छोड़ सकती हैं।

आशा है प्रस्तुत सस्करण भी छात्र व अध्यापक गण के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रयाग
१० जुलाई १९५५ } रानी टंडन

विषय-सूची

शरीर विज्ञान और स्वास्थ्य

विषय प्रवेश

जीवित तथा अजीवित मे भेद

ससार की कुल वस्तुयें मोटे तौर से दो समूहों में बाँटी जा सकती हैं। एक तो जीवित चीजें जैसे मनुष्य, गाय, घोड़ा आदि पशु तथा नीम, पीपल आदि पेड, और दूसरी अजीवित चीजें जैसे मिट्टी, पत्थर, धातुयें आदि। प्रश्न यह उठता है कि जीवित तथा अजीवित चीजों में क्या अन्तर है? आप कहेंगे कि जो वस्तुयें चल फिर सकती हैं वे जीवित तथा जो चल नहीं सकतीं वे अजीवित हैं। पेडों को देखिये, वे तो एक ही स्थान पर खड़े रहते हैं। क्या हम उन्हें जीवित नहीं समझें? रेलगाडी का इजन खूब तेजी से चलता है। क्या उसे हम जीवित वस्तु मान लें। अतः यह आवश्यक है कि किन विशेष गुणों के कारण हम जीवित वस्तुओं को अजीवित वस्तुओं से अलग करते हैं, यह हम अच्छी प्रकार से समझ लें। इन दोनों में निम्न अन्तर होते हैं—

(१) गति (Movement)—जीवों का पहला गुण यह है कि उनमें गति होती है। जीवित वस्तुओं का चलना स्वय उनकी शक्तियों द्वारा होता है। घोड़ा या बैल जब दौड़ते हैं उस समय उन्हें बाहर से कोई मशीन या अन्य किसी प्रकार की शक्ति की सहायता प्राप्त नहीं होती है। वे अपने अन्दर की शक्तियों से ही प्रेरित होकर दौड़ते हैं। रेलगाडी के इजन को बाहर से भाप द्वारा शक्ति पहुँचाई जाती है जिसके कारण वह चलता है। भाप न मिलने पर इजन रुक जायगा। पेड इस प्रकार एक जगह से दूसरी जगह चलते हुए नहीं दिखाई पडते, किन्तु उनमें भी उनकी आन्तरिक शक्तियों द्वारा नई पत्तियाँ तथा नई टहनियाँ

में इन मलपदार्थों को बराबर बाहर निकालते रहने की शक्ति होती है। अजीवित वस्तुओं में ऐसी कोई शक्ति नहीं होती।

(५) सचेतनता—जीवन पदार्थ में एक विशेष गुण सचेतनता का है। इस गुण द्वारा वह बाहरी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है तथा भिन्न-भिन्न प्रभावों के अनुसार अपने कार्यों को सचालित करता है। इस गुण को जीव विज्ञान की भाषा में सचेतनता (irritability) कहते हैं। शेर को देखकर हम तुरन्त अपने बचाव का उपाय करते हैं, पैरों में कॉटा चुभने पर तुरन्त पैर हटा लेते हैं। पेड भी, जिन्हें सूर्य की रोशनी की आवश्यकता होती है, सूर्य की रोशनी को एक ओर से हटाकर दूसरी ओर कर देने के बाद तुरन्त उसी ओर, जिधर रोशनी है, मुडना शुरू कर देते हैं। ये सब उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि जीव पदार्थ में अनुभव करने की एक शक्ति होती है और वह बाहरी उत्तेजनाओ के अनुसार अपने को सचालित करता है।

अजीवित पदार्थों में सचेतनता का गुण नही होता और वे बाहरी अनुभवों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

(६) उत्पादन—जीवित पदार्थ का विशेष महत्त्व का गुण अपने रूप की तरह के जीवों के उत्पन्न करने की इच्छा का रखना तथा उसकी पूर्ति के लिये शक्ति का होना है। प्रत्येक जीव अपनी वृद्धि तथा अपनी जाति की उत्पत्ति करने में समर्थ होता है। मनुष्य तथा प्रत्येक जन्तु बच्चे या अण्डे पैदा करते हैं जो वृद्धि प्राप्त कर उन्हीं के समान हो जाते हैं। पेड भी बीजों को पैदा करते हैं जो जमीन में गिरने पर उगते हैं और अपनी जाति के नये पौधों को जन्म देते हैं।

जीव विज्ञान क्या है ?

ससार की विभिन्न वस्तुओं का अध्ययन करने के लिये विज्ञान के विभिन्न विभाग हैं। विज्ञान का वह विभाग जो जीवित वस्तुओं के अध्ययन से सम्बन्ध रखता है जीव विज्ञान या प्राणि विज्ञान कहलाता है। जीव विज्ञान के भी दो

मुख्य विभाग हैं—वनस्पति विज्ञान और जन्तु विज्ञान। वनस्पति विज्ञान में पेड़ पौधों के जीवन का अध्ययन किया जाता है और जन्तु विज्ञान में कीट-पतिंगों तथा पशु-पक्षियों के जीवन का, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है।

इस पुस्तक में हमारा ध्येय मनुष्य शरीर का अध्ययन करना है।

ससार की प्रत्येक वस्तु का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर का अध्ययन भी हम विभिन्न दृष्टिकोणों से करते हैं। मनुष्य शरीर के आकार और बनावट का अध्ययन शरीर-रचना विज्ञान या आकार विज्ञान (anatomy) कहलाता है। शरीर के विभिन्न अगों के कार्यों का अध्ययन शरीर शास्त्र या शरीर विज्ञान (physiology) कहलाता है। शरीर के विभिन्न अगो के कार्यों और उनके महत्व को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले उनकी रचना का ज्ञान प्राप्त करें। पुस्तक के इस भाग मे हम इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों से मनुष्य शरीर का अध्ययन करेंगे।

मनुष्य शरीर

मनुष्य शरीर का बाहरी आकार क्या है यह सभी जानते हैं। मनुष्य शरीर को हम मुख्यत चार भागों में बाँटते हैं—(१) सिर, (२) ग्रीवा, (३) धड़, और (४) हाथ तथा पैर।

सिर को हम खोपडी और चेहरा दो भागो में बाँटते हैं। खोपड़ी सिर के ऊपरी व पिछले भाग की हड्डियों का वह कोष्ठ है जिसमें मस्तिष्क सुरक्षित रहता है। चेहरे में कान, नाक और आँखों के छिद्र, ललाट की हड्डी, मुख तथा दोनों जबड़े होते हैं।

ग्रीवा सिर को धड़ से जोडती है। इसमें पीछे की ओर रीढ़ की हड्डी, आगे की ओर टेंटुआ तथा मध्य में भोजननली स्थित है।

धड़ के दो भाग हैं—वक्षस्थल और उदर या पेड़ू। ऊपरी भाग वक्षस्थल और निचला भाग पेड़ू कहलाता है। धड़ को इन भागों में विभाजित करने

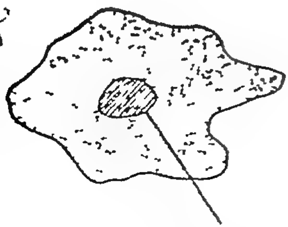
वाली एक मासपेशी है जिसे वक्षोदरमध्यस्थ पेशी कहते हैं। यह पेशी धड़ के बीचोबीच एक ओर से दूसरी ओर तक फैली हुई है। वक्षस्थल में पसलियाँ, फेफड़े और हृदय, तथा उदर में आमाशय, यकृत, क्लोम, प्लीहा तथा छोटी व बड़ी आँतें, गुर्दे, मूत्राशय और नितम्ब अस्थि स्थित हैं।

हाथ धड के ऊपरी भाग में कधों की हड्डियों से जुड़े रहते हैं और दोनों टाँगें धड़ के निचले भाग मे नितम्ब अस्थि से जुड़ी रहती हैं।

सेल (cell)

जिस प्रकार एक पूरा मकान एक एक ईंट को जोडकर बनाया जाता है, उसी प्रकार हमारा शरीर भी छोटे छोटे कोष्ठकों के मिलने से बना है। इन कोष्ठकों को सेल कहते हैं। प्रत्येक सेल के चारों ओर एक झिल्ली की दीवार होती है। सेल के अन्दर एक स्वच्छ गाढ़ा रस भरा होता है जिसे प्रोटोप्लाज्म (protoplasm) कहते हैं। सेल के लगभग मध्य में एक अधिक घना आकार होता है जिसे केन्द्र या मींगी कहते हैं। यह भी प्रोटोप्लाज्म के पदार्थ से ही बना होता है।

प्रोटोप्लाज्म जीवन-पदार्थ है। इस पदार्थ के कारण ही जीवों में जीवन होता है। प्रोटोप्लाज्म का नष्ट हो जाना ही जीव का मरना है। प्रोटोप्लाज्म का विशेष गुण उसकी सचेतनता है। उसमें प्रत्येक बात को अनुभव करने की शक्ति होती है जिसके कारण जीव विभिन्न प्रभावों के अनुसार प्रतिक्रिया करता है।



चित्र १—सेल

शरीर में कई प्रकार की सेलें होती हैं। एक ही प्रकार की सेलों के समूह को जो केवल एक प्रकार का निश्चित कार्य करती हैं तन्तु कहते हैं, जैसे हमारी मासपेशी एक तन्तु है। तन्तु कई प्रकार के होते हैं—मास तन्तु, स्नायु तन्तु (नाड़ी) तथा बन्धक तन्तु। एक ही प्रकार के कार्य करने वाले कई तन्तु मिल कर जब शरीर का कोई ऐसा भाग बनाते हैं जो अपने विशेष

शरीर विज्ञान

पहला अध्याय

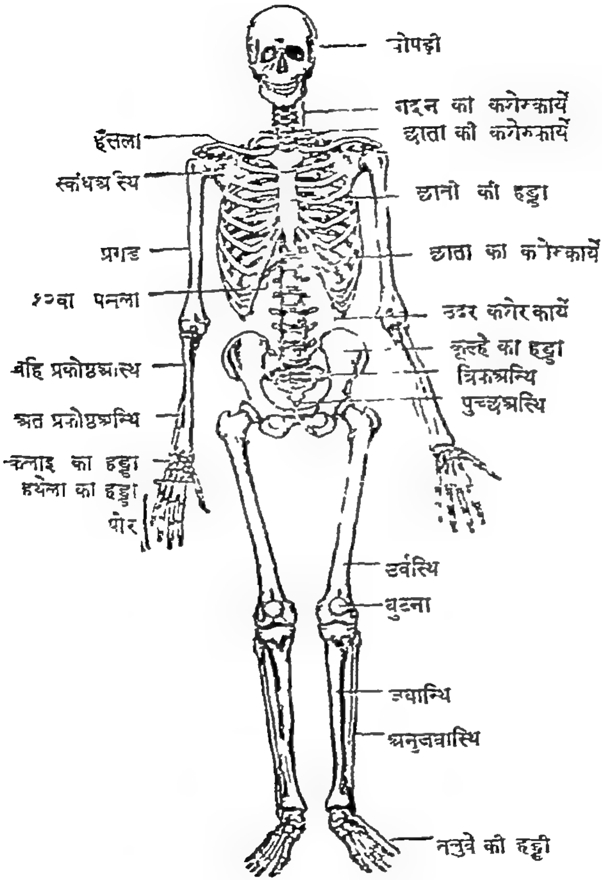
अस्थि संस्थान

अस्थिपंजर

मनुष्य के शरीर का ढाँचा मजबूत हड्डियों का बना हुआ है। हड्डियों के इस ढाँचे को ककाल या अस्थिपजर कहते हैं। यदि शरीर के भीतर यह ढाँचा न होता तो मनुष्य-शरीर का वर्तमान रूप भी न होता। उस दशा में मनुष्य मास का एक लोंदा मात्र होता। अस्थिपजर केवल शरीर का आकार ही नहीं बनाता, इसके अन्य भी उपयोग हैं। यह शरीर में दृढ़ता लाता है और शरीर के तन्तुओं तथा पुट्ठों के लिये आधार तथा सहारे का काम करता है। यदि मनुष्य शरीर केवल मास का बना होता तो मनुष्य के लिए सीधा खड़ा होना, चलना आदि सम्भव नहीं होता। तब मनुष्य भी बिना हड्डी वाले कीड़ों की भाँति पृथ्वी पर रेंगता। अस्थिपजर का एक और भी लाभ है। स्थान-स्थान पर हड्डियों के जुड़ने से शरीर के बीच के खाली स्थान कोष्ठ का रूप धारण कर लेते हैं और इन कोष्ठों में हमारे शरीर के कोमल अग—मस्तिष्क, हृदय, आमाशय आदि—सुरक्षित रहते हैं। इस प्रकार बाहरी झटकों और चोटों आदि से उनकी रक्षा होती है।

हमारा अस्थिपजर ऊपर से नीचे तक केवल एक ही हड्डी नहीं है। यह छोटी बड़ी विभिन्न हड्डियों से मिलकर बना है। यदि सम्पूर्ण अस्थिपजर केवल एक हड्डी होता तो यह अधिक कड़ा और अचल होता। न तो हम चल-फिर सकते और न अन्य कोई कार्य ही कर सकते। भोजन के समय हमारे हाथ को कोहनी पर मुड़ना पड़ता है तभी भोजन को हम मुँह तक पहुँचा सकते हैं। थाली से भोजन उठाने में हाथ की अगुलियों को मुड़ना व हिलना पड़ता है। यदि सम्पूर्ण हाथ केवल एक ही हड्डी का बना होता तो अंगुलियों व कोहनी की

गति सम्भव न होती। हम भोजन मुख में तभी चबा सकते हैं जब जबड़े की



चित्र २—अस्थिपंजर

हड्डी में गति होती है। यदि इस हड्डी में गति न हो तो हम मुख खोल भी न सकें। इसी प्रकार बिना हड्डियों के मुड़े चलना, बैठना आदि भी सम्भव नहीं हो

सकता। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इतनी विभिन्न हड्डियाँ होने की क्या उपयोगिता है। हमारे शरीर में छोटी बड़ी कुल मिलाकर २०६ हड्डियाँ हैं। इन हड्डियों का भार शरीर के भार का सोलहवाँ हिस्सा होता है।

शरीर के प्रत्येक भाग की हड्डियाँ उस भाग के कार्य करने के उपयुक्त बनाई गई हैं। हाथ-पैरों की हड्डियाँ लम्बी रखी गई हैं जिससे उन्हें एक बार उठाने में काफी दूरी तय की जा सके। यदि पैर की हड्डियाँ लम्बी न होतीं तो एक बार पैर उठाने में आप उतना आगे न बढ़ सकते जितना कि बढ़ते हैं। इसी प्रकार कार्य के अनुसार ही विभिन्न हड्डियों के जोड़ भी भिन्न प्रकार के हैं। इनका वर्णन आगे किया जायगा।

अस्थिपंजर दो प्रकार के पदार्थों से बना है—एक कड़ा पदार्थ जो हड्डी (bone) कहलाता है और मुख्यतः खनिज लवणों जैसे कैलसियम फासफेट, मैगनीसियम फासफेट आदि से बनता है; तथा दूसरा कोमल पदार्थ जो कार्टिलेज (cartilage) कहलाता है। बालक की हड्डियाँ अधिक मात्रा में कार्टिलेज की बनी होती हैं। कार्टिलेज कोमल और लचीला होता है। यही कारण है कि बच्चों की हड्डियाँ जल्दी टूटती नहीं वरन् मुड़ जाती हैं। जैसे-जैसे बालक की वृद्धि होती है कार्टिलेज हड्डी के रूप में बदलते जाते हैं और अस्थिपंजर कड़ा पड़ता जाता है। बुड्ढों की हड्डियों में कार्टिलेज का भाग बिल्कुल नहीं होता। इसीसे उनकी हड्डियाँ एकदम कड़ी हो जाती हैं और उनमें जरा भी लचीलापन नहीं रहता। यही कारण है कि बुड्ढों की हड्डियाँ जल्दी टूटती हैं।

हड्डियों का आकार और बनावट—हड्डियाँ कई आकार की होती हैं—लम्बी, छोटी, चपटी तथा टेढ़ी-मेढ़ी। भुजाओं तथा टाँगों की हड्डियाँ लम्बी होती हैं। कधों व खोपड़ी की हड्डियाँ चपटी होती हैं। अगुलियों, कलाई तथा टखनों की और अन्य कई स्थानों की हड्डियाँ छोटी-छोटी होती हैं। कूल्हे की हड्डियों का अलग ही रूप होता है। प्रत्येक अंग की आवश्यकतानुसार वहाँ की हड्डी का आकार बना है।

सभी हड्डियाँ बीच से खोखली होती हैं। यदि किसी लम्बी हड्डी को लम्बाई से काटें तो बीच में एक पतली नली मिलेगी। इस नली को मज्जानली (marrow cavity) कहते हैं। इस नली में एक चिकना पीले रङ्ग का तरल पदार्थ भरा रहता है। इसे मज्जा कहते हैं। मज्जा लाल तथा श्वेत रक्तकण बनाने का काम करती है। मज्जानली में रक्त-नलियाँ व नाड़ी-सूत्र भी रहते हैं। इसलिये जीवित अवस्था में हड्डियों का रङ्ग रक्त के कारण कुछ हल्का गुलाबी होता है। मरने के बाद साफ करने पर हड्डी का रंग सफेद होता है। लम्बी हड्डियों के सिरों, कलाई व एड़ी की छोटी-छोटी हड्डियों, कशेरुकाओं तथा पसलियों में लाल मज्जा रहती है।

हड्डियों के सिरों पर कार्टिलेज का भाग अधिक होता है। ये सिरे कुछ-कुछ स्पञ्ज की तरह होते हैं। सिरों पर हड्डियाँ एक दूसरी से जुड़ती हैं। अत इन स्थानों पर कार्टिलेज अधिक होने से जोड़ ठीक रहता है।

सम्पूर्ण अस्थिपञ्जर को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) खोपड़ी (skull)
(२) धड़ (trunk)
(३) भुजायें और टाँगें (upper and lower limbs)

खोपड़ी

खोपड़ी २२ भिन्न-भिन्न हड्डियों से मिलकर बनी है। इसे हम पुन दो भागों में बाँट सकते हैं—मस्तिष्कघर (cranium) तथा चेहरा (face)।

मस्तिष्कघर आठ हड्डियों से मिलकर बना है। ये आठों हड्डियाँ चपटी और बहुत ही मजबूत हैं। ये आपस में इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि देखने से एक ही हड्डी मालूम पड़ती हैं। इस प्रकार मजबूती से जुड़ कर ये एक सन्दूक-सा बना लेती हैं। इसी में मस्तिष्क सुरक्षित रहता है। इनमें सामने वाली हड्डी मस्तक तथा ललाट की हड्डी भी कही जाती है।

चेहरे में कुल मिलाकर १४ हड्डियाँ हैं। इनमें तालु, नाक, गाल और कान की हड्डियाँ, तथा दोनों जबड़े (jaw bones) सम्मिलित हैं। दोनों जबड़े आपस में इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि ऊपर-नीचे हिल-डुल सकें। इसीसे मुँह खोलना या खाना चबाना सम्भव होता है। दोनो जबड़ो मे ही ऊपर-नीचे के दाँत जकड़े रहते हैं।

खोपडी का पिछला भाग नीचे की ओर रीढ़ की हड्डी से जुडा हुआ है। इसीसे खोपडी धड के ऊपर सीधी खडी रहती है। नाडियो और रक्त-नलियों के आने जाने के लिए इन हड्डियों में उपयुक्त स्थान पर छेद बने रहते हैं जैसे खोपड़ी की हड्डी में पीठ की ओर गर्दन के पास सुषुम्ना के जाने के लिए छेद रहता है।

धड़

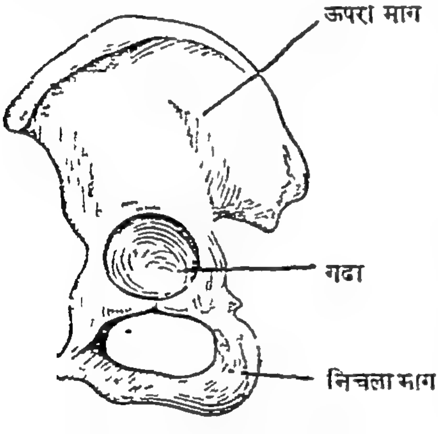
इस भाग में गर्दन से लेकर जाँघों तक का भाग सम्मिलित है। धड़ के मध्य में एक मासपेशी होती है जो इसे दो लगभग बराबर भागों में बाँटती है। यह मासपेशी वक्षोदरमध्यस्थ पेशी (diaphragm) कहलाती है। वक्षोदर-मध्यस्थ पेशी के ऊपरी भाग में, जिसे वक्षस्थल कहते हैं, बहुत-सी हड्डियाँ हैं। सामने की ओर बीच में छाती की हड्डी (breast bone or sternum) होती है। पीछे पीठ की ओर बीच मे रीढ़ की हड्डी होती है। यह पूरे धड की लम्बाई की होती है। छाती की हड्डी के दोनों ओर पसली की हड्डियाँ हैं जो आगे की ओर छाती की हड्डी से तथा पीछे की ओर रीढ़ की हड्डी से जुड़ी रहती हैं।

वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के नीचे के भाग को उदर, पेड़ू अथवा वस्तिगह्वर कहते हैं। इसमे पीछे पीठ की ओर रीढ़ की हड्डी तथा नीचे की ओर कूल्हे की हड्डी रहती है।

छाती की हड्डी—यह छाती के बीचो-बीच रहती है। इसकी लम्बाई लगभग ६-७ इञ्च होती है। इसका ऊपरी भाग कुछ चौडा और निचला भाग पतला

(shoulder blade or scapula) कहते हैं। इसी के गोल छिद्र में बाँह की हड्डी रहती है। यह सामने की ओर हँसली की हड्डी से जुड़ी रहती है। पीछे की ओर यह रीढ़ की हड्डी से नहीं जुड़ी है इसी से खूब हिलडुल सकती है।

नितम्ब अस्थि—वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के नीचे पेड़ू के पिछले भाग में नितम्ब अस्थि (hip girdle) है। इसे कूल्हे की हड्डी भी कहते हैं। पीछे की ओर यह रीढ़ की हड्डी से जुडी रहती है। सामने नीचे की ओर इसके गढे में जाँघ की हड्डी जुडी रहती है।



चित्र ४—नितम्ब अस्थि

नितम्ब-अस्थि के ऊपर तथा पसलियों के नीचे पेड़ू में आमाशय, यकृत, अँतडियाँ, गुर्दे, मलाशय, मूत्राशय आदि कोमल व आवश्यक अग स्थित हैं। ये कोमल अग अस्थि-पजर के भीतर रहने से बाहरी झटकों व चोटों आदि से सुरक्षित रहते हैं।

रीढ की हड्डी—इसकी बनावट अन्य सब हड्डियों से भिन्न है। यों तो गर्दन से लेकर गुदा तक यह एक सीधी हड्डी मालूम पडती है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यह पूरी एक हड्डी नहीं है वरन कई छोटी-छोटी हड्डियों से मिलकर बनी है। ये छोटी-छोटी हड्डियाँ कशेरुकायें (vertebrae) कहलाती हैं। सभी कशेरुकाओं की बनावट लगभग एक ही ढाँचे पर हुई है, किन्तु बाह्य आकार में इनमें परस्पर काफी अन्तर है। एक सामान्य कशेरुका को देखने से ज्ञात होगा कि इसके बीच का भाग एक नगदार अँगूठी की तरह है। नगवाला भाग जो मोटा है गात्र या पिण्ड (centrum) कहलाता है। गात्र से जो घेरदार या मेहराबदार भाग दोनों ओर जाते हैं वे घेरे या मेहराब (neural arch) कहलाते

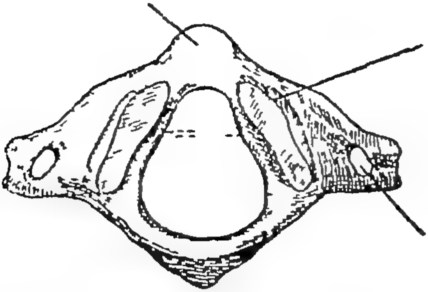
हैं। गात्र के दोनों ओर के घेरे ऊपर की ओर बीच में मिलकर एक छेद बनाते हैं। सब कशेरुकाओं के ये छेद एक दूसरे की सीध में रहते हैं और इस प्रकार एक नली बनाते हैं। इस नली को रीढ नली (neural canal) कहते हैं। इस नली में सुषुम्ना (spinal cord) स्थित रहता है। प्रत्येक घेरे से एक एक छोटी हड्डी दोनों ओर निकली रहती है। इन्हें पार्श्व प्रवर्धन (transverse processes) कहते हैं। दोनों ओर के घेरे या मेहराब ऊपर की ओर बीच में जहाँ मिलते हैं वहाँ से एक छोटी हड्डी और निकली रहती है जिसका सिरा नीचे की ओर कुछ झुका रहता है। इसे कशेरु-कण्टक (neural spine) कहते हैं।

कशेरुकायें एक दूसरे के ऊपर रखी हुई हैं। इनके बीच में कार्टिलेज होता है। इनका जोड़ बहुत मजबूत होता है और इसकी विशेषता यह है कि जोड़ होते हुये भी यह हड्डी मुड़ सकती है। इसीसे इधर उधर झुकने या मुड़ने से भी यह सीधी लम्बी हड्डी टूटती नहीं। एक दूसरा लाभ यह है कि किसी प्रकार के धक्के या चोट के प्रभाव से कशेरुकायें परस्पर टकराती और रगड़ नहीं खाती हैं। साथ ही इस प्रकार का कोई प्रभाव मस्तिष्क तक नहीं पहुँच पाता।

सब से ऊपर अर्थात् गर्दन के पास की पहली कशेरुका प्रथमा ग्रीवा कशेरुका (atlas) कहलाती है।



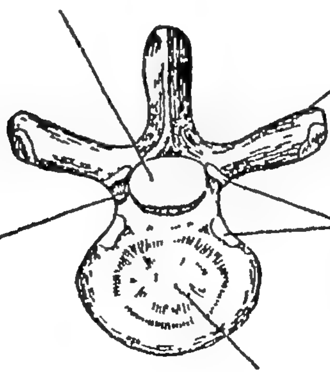
चित्र ५—रीढ की हड्डी



चित्र ६—प्रथमा ग्रीवा कशेरुका

यह सिर को आधार प्रदान करती है। इसके अगले सिरे पर दो गोल गड्ढे हैं जिनमें खोपढी की पश्चात् अस्थि के दोनों।उभार (occipital condyle) स्थित रहते हैं।

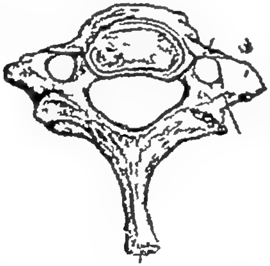
खोपड़ी प्रथमा ग्रीवा कशेरुका पर इस प्रकार बैठी रहती है जैसे कोई खूंटी किसी गढे में बैठा दी गई हो। इसी कारण इन दोनों के बीच के जोड़ को खूंटी-दार जोड़ कहते हैं। इस प्रकार के जोड़ के कारण ही हम सिर को सब दिशाओं में घुमा सकते हैं।



चित्र ७—छाती की सातवी कशेरुका

कुल कशेरुकाओं की संख्या २६ है। सब से नीचे की दो कशेरुकायें क्रम से त्रिकअस्थि (sacrum) और पुच्छअस्थि (coccyx) कहलाती हैं। त्रिकअस्थि पाँच छोटी कशेरुकाओं से मिल कर बनी है तथा दोनों कूल्हों (hips) के बीच स्थित है। पुच्छअस्थि या गुदास्थि में भी चार छोटी कशेरुकायें होती हैं। इसी कारण कशेरुकाओं की गिनती बहुधा ३३ भी बतलाई जाती है। पुच्छअस्थि के सम्बन्ध में विचार है कि यह प्राचीन काल की पूछ की निशानी है।

रीढ़ की हड्डी को जब हम सामने या पीछे से सीधा खड़ा होने पर देखें तो यह सीधी मालूम पड़ती है, पर बायां या दाहिनी तरफ से देखने पर यह सीधी न दीख कर इधर-उधर झुकी हुई दिखलाई देती है। इसमें चार झुकाव (curve) हैं—गर्दन का झुकाव (cervical), कंधे या पीठ का झुकाव (dorsal), कमर का झुकाव (lumber) और त्रिक(sacrum) का झुकाव। गर्दन के झुकाव में ७, कंधे के झुकाव में १२, कमर के झुकाव में ५, तथा त्रिक में २ कशेरुकायें होती हैं। इन झुकावों का विशेष लाभ यह है कि पैरों के बल कूदने या गिरने पर ये झटकों को मस्तिष्क तक नहीं पहुँचने देते। ये झुकाव मनुष्य को सीधा खड़ा होने में भी सहायता देते हैं।



चित्र ८—छाती की एक कशेरुका

जन्म के समय बालक के शरीर में केवल कंधे का झुकाव होता है। जब बालक गर्दन उठाना सीखता है तब गर्दन का झुकाव दिखलाई देने लगता है।

जब बालक चलने लगता है तब कमर का झुकाव बनता है और तभी त्रिक का झुकाव भी दिखलाई पड़ने लगता है।

किसी भी झुकाव का अधिक बड़ा या छोटा होना या झुकावों का गिनती में अधिक होना इस बात का द्योतक है कि प्रारम्भ से ही उठने-बैठने या चलने फिरने का ढग ठीक नही रहा है। एक ही ओर अधिक देर तक झुके रहने से झुकाव बढ़ जाने का डर रहता है।

भुजाओं की हड्डियाँ

सपूर्ण भुजा को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—**ऊपरी बाहु** (upper arm), **अग्रबाहु** (fore arm) तथा **हाथ** (hand)।

ऊपरी बाहु में कधे से कोहनी तक एक ही लम्बी हड्डी है। यह प्रगड अस्थि (humerus) कहलाती है। इसका ऊपरी सिरा गोल होता है और कधे की हड्डी के छेद मे बैठा रहता है। नीचे का सिरा कोहनी पर अग्रबाहु की दोनों हड्डियो से जुड़ता है।

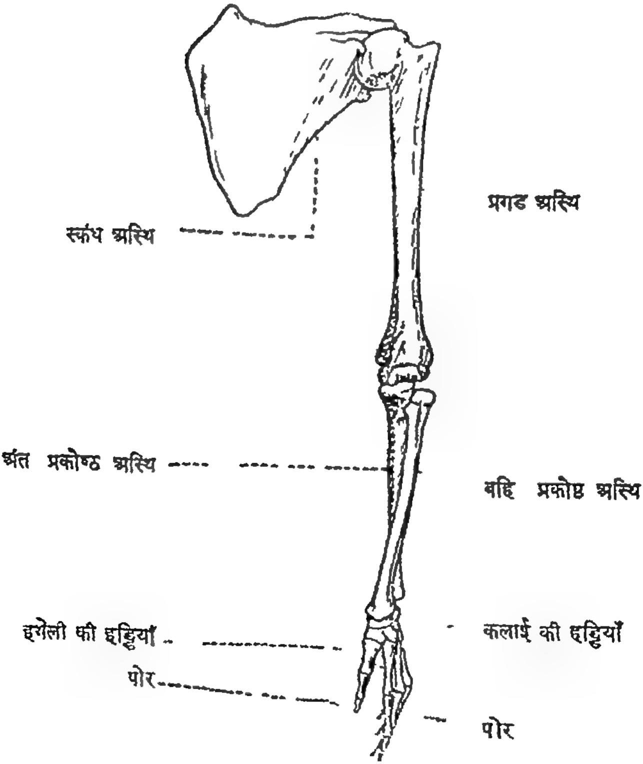
अग्रबाहु में दो हड्डियाँ होती हैं जो प्रगड अस्थि से कुछ कम लम्बी और पतली होती हैं। अगूठे की ओर वाली हड्डी **बहि प्रकोष्ठ अस्थि** (radius) तथा कनिष्ठका अगुली की ओर वाली हड्डी **अत प्रकोष्ठ अस्थि** (ulna) कहलाती है। ये हड्डियाँ ऊपर की ओर कोहनी पर प्रगड अस्थि से और नीचे की ओर कलाई की हड्डियों से जुड़ी रहती हैं।

हाथ (hand) को पुन तीन भागों में बाँटा जा सकता है—**कलाई** (wrist), **हथेली** (palm) तथा **अगुलियाँ** (fingers)।

कलाई में ८ छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं। ये कलाई की हड्डियाँ (carpus) कहलाती हैं। ये आठों हड्डियाँ ४-४ की दो पक्तियों में लगी रहती हैं। इनका आकार घनाकार (cubical) होता है। कलाई की हड्डियो की ऊपरी पक्ति दोनों प्रकोष्ठ अस्थियों से जुड़ी रहती है तथा निचली पक्ति हथेली की हड्डियों से।

हथेली में ५ छोटी तथा सीधी हड्डियाँ होती हैं। ये हथेली की हड्डियाँ (metacarpus) कहलाती हैं। ये ऊपर की ओर कलाई की हड्डियों से तथा नीचे की ओर अगुलियों की हड्डियो से जुड़ी रहती हैं।

प्रत्येक अगुली में ३ ३ छोटी हड्डियाँ होती हैं और अगूठों में दो-दो। इस प्रकार सब अगुलियाँ १४ छोटी हड्डिया से मिलकर बनती हैं। ये हड्डियाँ **पोर** (phalanges) कहलाती हैं। ये ऊपर की ओर हथेली की हड्डियों से जुड़ी रहती हैं। नीचे की ओर अगुलियों के सिरों पर नाखून होते हैं। यह अगुलियों के कोमल सिरों की रक्षा का प्राकृतिक साधन है।



चित्र ६—बाहु की अस्थियाँ

टाँगों की हड्डियाँ

भुजाओं की भाँति टाँगें भी तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं—जाँघ (thigh), पगदंड (shank) तथा पैर (foot)।



चित्र १०—टाँग की अस्थियाँ

जाँघ से घुटने तक एक ही लम्बी हड्डी है। यह बेलनाकार होती है और उर्वस्थि (femur) कहलाती है। इसका ऊपरी सिरा गोल होता है और नितम्ब अस्थि के छेद में बैठा रहता है। नीचे की ओर यह हड्डी घुटने पर पगदण्ड की दोनों हड्डियों से जुड़ी रहती है। इसके नीचे के भाग के ऊपर एक तिकोनी सी हड्डी रहती है जो घुटना (kneecap) बनाती है। यह उर्वस्थि में इस प्रकार जुड़ी रहती है कि उसके ऊपर खूब हिल डुल सके।

पगदण्ड में दो हड्डियाँ होती है। अँगूठे की ओर वाली हड्डी जंघास्थि (tibia) तथा दूसरी अनुजंघास्थि (fibula) कहलाती है। अनुजंघास्थि जंघास्थि से पतली और कमजोर होती है। पूरा पगदंड उर्वस्थि (femur) से कुछ कम लम्बा तथा पतला होता है। इन हड्डियों के ऊपरी सिरे उर्वस्थि

से तथा घुटने की तिकोनी हड्डी से और नीचे के सिरे टखने की हड्डियों से जुड़े रहते हैं।

पैर को हम फिर तीन भागों में बाँट सकते हैं —टखना, प्रपाद या तलुवा, तथा अंगुलियाँ (toes)।

टखने में सात हड्डियाँ होती हैं। ये हड्डियाँ टखने की हड्डियाँ (tarsus) कहलाती हैं। टखने की हड्डियाँ कलाई की हड्डियों की भाँति न तो एक से आकार की होती हैं और न उनकी भाँति दो पंक्तियों में परस्पर जुड़ी रहती हैं। यहाँ की सभी हड्डियाँ विरूप होती हैं।

पगदंड की दोनों हड्डियों के बीच में जो विरूप हड्डी है उसका अगला सिरा गोल होता है। यह गुल्फास्थि कहलाता है। टखने के ऊपर उभरी हुई गोल हड्डी जो हम अनुभव कर सकते हैं यही है।

दूसरी हड्डी सबसे बड़ी होती है और इसका उभरा हुआ भाग ही एड़ी बनाता है।

शेष पाँच छोटी हड्डियाँ मिल कर टखना (ankle) बनाती हैं। इनके भी विभिन्न आकार होते हैं और ये अलग-अलग ढंग से जुड़ी रहती हैं।

प्रत्येक तलुवे में पाँच सीधी लम्बी हड्डियाँ होती हैं। ये हड्डियाँ तलुवे की हड्डियाँ (metatarsus) कहलाती हैं। ये हड्डियाँ हथेली की हड्डियों की अपेक्षा लम्बी होती हैं और ऊपर की ओर टखने की हड्डियों से तथा सामने की ओर अंगुलियों की हड्डियों से जुड़ी रहती हैं।

प्रत्येक अंगुली में तीन तथा अंगूठे में दो छोटी हड्डियाँ होती हैं। इस प्रकार हाथ की अंगुलियों की भाँति प्रत्येक पैर की अंगुलियों में भी १४ छोटी हड्डियाँ होती हैं और ये पोर (phalanges) कहलाती हैं। ये एक सिरे पर तलुवे की हड्डियों से जुड़ी रहती हैं और दूसरे सिरे पर उनकी रक्षा के लिए भी हाथ की अंगुलियों की भाँति नाखून होते हैं।

जोड़ या संधि (Joints)

हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अगों की हड्डियाँ आपस में एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। यदि ऐसा न होता तो हमारे लिए कोई भी काम करना सभव नहीं होता और न शरीर का कोई सुचारु रूप ही होता। यदि हमारी ऊपरी बाहु की हड्डी (प्रगड अस्थि) स्कध अस्थि मे अपने वर्तमान रूप में जुड़ी न होती तो हमारी बॉह बेकार निर्जीव सी लटकती रहती। हम उसे घुमा फिरा या ऊपर नीचे उठा न सकते। ऐसी दशा मे हम हाथ से कोई काम नहीं कर सकते। अतः शरीर की हड्डियों का आपस मे एक दूसरे मे जुड़ा होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रत्येक स्थान के जोड से भिन्न प्रकार का काम निकलता है, या यों कहिए कि प्रत्येक अग के कार्य की सुविधानुसार प्रकृति ने उस अग के जोड को बनाया है।

जिस स्थान पर दो हड्डियों की सधि होती है वहाँ पर दोनों ही हड्डियो में कार्टिलेज की मात्रा अधिक रहती है। कार्टिलेज कोमल पदार्थ है। अतः जोड पर इसके रहने से जोड़ में सुविधा रहती है। दोनो हड्डियां को जोड़ने वाले तन्तु बधक (सौत्रिक) तन्तु कहलाते हैं। यह तन्तु लचीले (elastic) होते हैं और खिंचने से टूटते नहीं। जोड़ पर हड्डियाँ एक दूसरे पर घूमती हैं। इस रगड़ को बचाने के लिये इन स्थानों पर किसी चिकने तरल पदार्थ की आवश्यकता रहती है। अत प्रत्येक सधि पर ऐसी ग्रन्थियाँ (glands) होती हैं जिनसे एक प्रकार का चिकना तरल पदार्थ सदा निकलता रहता है। इससे सधि सुरक्षित रहती है, जिस प्रकार कोई मशीन तेल देने से सुरक्षित रहती है।

जोड़ दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते है—चल या चेष्टावन्त (moveable), तथा अचल या स्थिर (immoveable)।

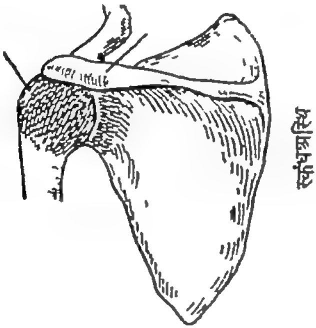
चल या चेष्टावन्त

इन सधियों की विशेषता यह है कि सधि के स्थान पर गति होती है, अर्थात् उस अग को हम अपनी इच्छानुसार घुमा फिरा सकते हैं। यदि हमारे शरीर के

अंगों के बीच इस प्रकार की संधियाँ न होतीं तो हमारे शरीर में कोई गति ही न होती। समस्त शरीर पत्थर की मूर्ति की भाँति अचल होता।

सब चेष्टावन्त संधियों में एक सी ही गति नहीं होती। गति के प्रकार और मात्रा दोनों ही में अन्तर होता है। उसी के अनुसार संधियों के भिन्न भिन्न नाम हैं।

(१) गेंद और प्यालेनुमा जोड़ (ball and socket joint)—यह जोड़ कंधे व जाँघ में पाया जाता है। इसमें क्रम से कंधे व कूल्हे की हड्डियों में प्याले की भाँति गड्ढा बना रहता है। प्रगंड अस्थि और उर्वस्थि (जाँघ की हड्डी) के ऊपरी सिरे गोलाकार रहते हैं। ये गोलाकार सिरे प्यालानुमा गड्ढों में घुसे रहते हैं और उसी के भीतर सब ओर घूम जाते हैं। इसीसे हम अपनी बाँह व जाँघ को चारों ओर घुमा सकते हैं।



चित्र ११—कंधे का जोड़

चूलदार या कब्जेदार जोड़ (hinge joint)—कोहनी व घुटने पर हड्डियाँ इस प्रकार जुड़ी रहती हैं कि हम अग्रबाहु तथा पगदण्ड को दरवाजे की भाँति एक ही ओर घुमा सकते हैं, दूसरी ओर नहीं। इसी से इसे चूलदार या कब्जेदार जोड़ कहा जाता है। अंगुलियों के जोड़ भी इसी श्रेणी के हैं।

खूँटीदार जोड़ (pivot joint)—यह जोड़ रीढ़ की हड्डी की सब से ऊपरी कशेरुका तथा खोपड़ी के बीच पाया जाता है। खोपड़ी की हड्डी के छेद के अन्दर रीढ़ की हड्डी इस प्रकार घुसी रहती है कि निकल नहीं सकती और खोपड़ी इस हड्डी पर सब ओर घूम व मुड़ सकती है, जैसे खूँटी के सहारे



चित्र १२—कोहनी का जोड

टँगी कोई चीज चारों ओर घूम सकती है। इसीसे इसे खूँटीदार जोड़ कहते हैं और इसीसे सिर को हर दिशा मे घुमा फिरा सकना सम्भव है। इसे धुरी का जोड़ भी कहते हैं।

फिसलने वाला जोड या अल्पचेष्ट संधि (gliding joint)—कुछ जोड़ ऐसे होते हैं जिनमें परस्पर जुड़ी हुई हड्डियाँ किसी ओर मुडती नहीं वरन् एक दूसरे के ऊपर ही आवश्यकतानुसार थोडासा फिसल जाती हैं, जैसे कशेरुकाओं के बीच के अथवा कलाई की हड्डियो के जोड। इस प्रकार की संधियों में दोनों हड्डियों के बीच मे कार्टिलेज की मोटी पर्त रहती है। इसी के सहारे एक हड्डी दूसरी हड्डी के ऊपर जुड़ी होते हुए भी इधर उधर थोड़ा फिसल सकती है। इसीसे इसे फिसलने वाला जोड कहते हैं। कुछ लोगों ने इसे अल्पचेष्ट संधि नाम भी दिया है।

अचल या स्थिर संधि

अचल या स्थिर संधियाँ वे हैं जिनमें किसी भी प्रकार की गति सम्भव नहीं है, जैसे सिर की हड्डियों की संधियाँ। पसलियो की हड्डियों के छाती की हड्डी तथा रीढ़ की हड्डी से जोड़ भी इसी श्रेणी के हैं। ऐसी संधियों मे हड्डियाँ एक दूसरी से सटी रहती हैं, बीच में रिक्त स्थान नहीं रहता। इसीसे इनमें किसी प्रकार की गति सम्भव नहीं होती।

प्रश्न

(१) अस्थिपंजर की मनुष्य शरीर में क्या उपयोगिता है ?

(२) अस्थियों की बनावट और आकार आदि का संक्षिप्त उल्लेख कीजिये।

(३) पसलियों की हड्डियों का हमारे शरीर में क्या उपयोग है? इनके आकार और विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

(४) रीढ़ की हड्डी शरीर की अन्य हड्डियों से किन बातों में भिन्न है? क्या स्वयं इनकी कशेरुकाओं में अन्तर है।

(५) रीढ़ की हड्डी में झुकाव क्यों है? मनुष्य शरीर को इससे क्या लाभ है?

(६) भुजा की अस्थियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। भुजा शरीर से किस प्रकार जुड़ता है?

(७) अस्थियाँ आपस में किस प्रकार जुड़ती हैं? क्या सब जोड़ एक ही प्रकार के होते हैं? उदाहरण सहित समझाकर लिखिये?

(८) (क) संक्षेप में वर्णन कीजिये कि मनुष्य कर्पर (क्रेनियम, खोपड़ा) की विविध अस्थियाँ एक दूसरे से कैसे जुड़ी हैं?

(ख) तुम्हारे शरीर में हड्डियों की क्या उपयोगिता है? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५०)

(९) एक चित्र की सहायता से वर्णन कीजिये कि श्रोणि (पेल्विस गिर्डल) की हड्डियाँ किस प्रकार परस्पर सन्निधान रहती हैं? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५१)

दूसरा अध्याय

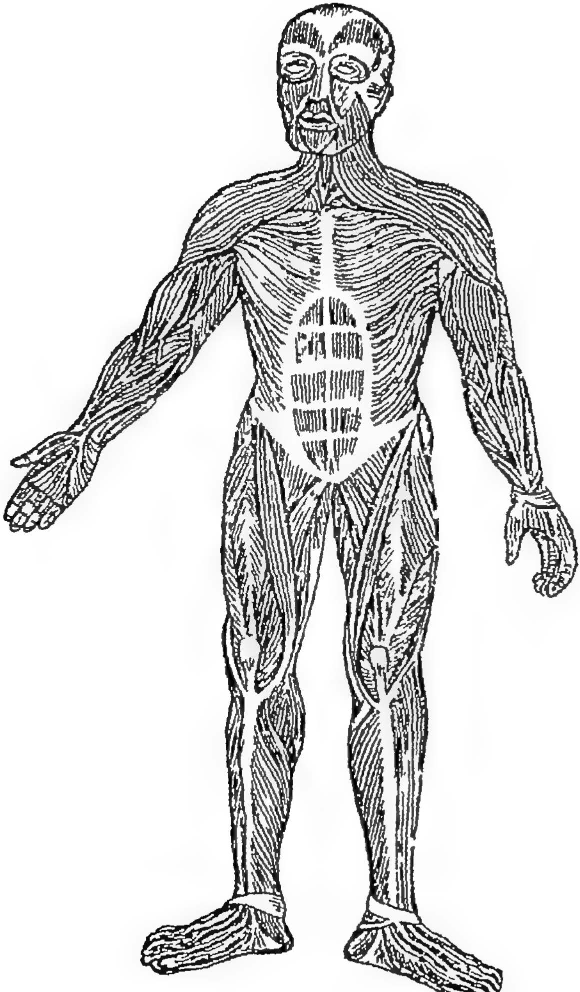
मांस संस्थान

हमारे शरीर के अस्थिपंजर के ऊपर मास मढ़ा हुआ है। यह शरीर के रूप को सुन्दर और सुडौल बनाने के अतिरिक्त शरीर के कार्यों में भी सहायता देता है। शरीर की गति मास की सहायता से ही होती है चलना-फिरना, मुँह खोलना, बोलना, पलक झपकना, ये सब काम मास से ही होते हैं। परन्तु समस्त शरीर मास का एक ही लोंदा नहीं है, छोटे छोटे मास के टुकड़ों से मिलकर बना है। हर स्थान पर मास के विभिन्न आकार के टुकड़े हैं। मास के ये टुकड़े मासपेशियाँ या पुट्ठे कहलाते हैं। मासपेशियाँ बीच में फूली हुई और स्वतंत्र होती हैं पर दोनों सिरों पर पतली होती हैं और सफेद डोरियों के रूप में हो जाती हैं। ये सफेद डोरियाँ बहुत मजबूत होती हैं। इन्हें कंडर (tendon) कहते हैं। मास पेशियाँ दोनों सिरों पर इन कंडरों द्वारा हड्डियों से बंधी रहती हैं।

मासपेशियाँ मुलायम होती हैं। ये मास का एक लोंदा नहीं होतीं वरन् माससूत्रों की कई पर्तों से मिलकर बनती हैं। परन्तु जो मास भीतरी अवयवों, नलियों, हृदय आदि में है उसमें अलग अलग पेशियाँ नहीं होतीं—यहाँ मास की मोटी व पतली तह होती है। मासपेशियों के बाहर चारों ओर चर्बी की पर्त होती है। मास के बीच में रक्त-नलियों व नाड़ी-सूत्रों का जाल सा बिछा रहता है। रक्त-नलियों के कारण ही मास का रंग लाल दिखाई देता है। इनके किनारों का रंग प्राय कुछ सफेद सा होता है। पेशियों के इन लाल व सफेद भाग को काटकर देखो तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि एक माशपेशी भी मास का एक ठोस टुकड़ा नहीं वरन् मास के महीन सूत्रों व सौत्रिक तन्तुओं से मिलकर बनती है।

आकार—मासपेशियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न आकार और रूप की होती हैं—कोई लम्बी, कोई छोटी, कोई चपटी, कोई मोटी, कोई चौकोर और कोई तिकोनी। बाहु व टाँगों की मासपेशियाँ लम्बी होती हैं, अंगुलियों की छोटी।

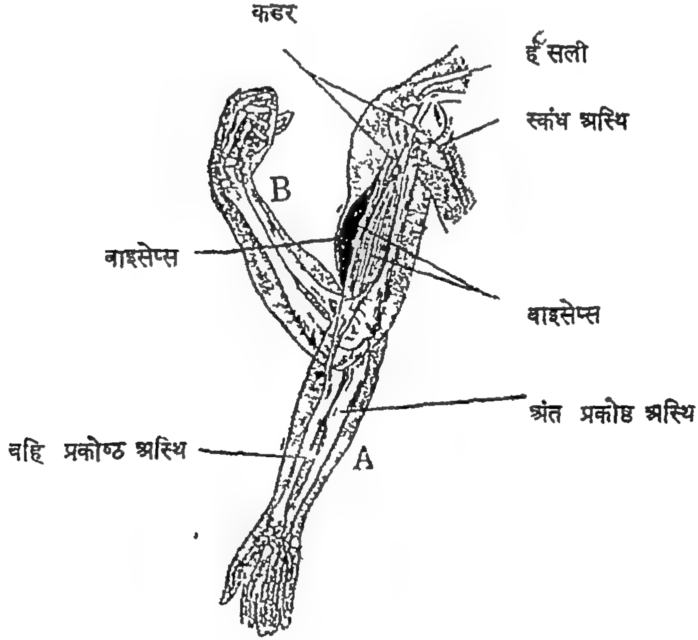
गुण—मासपेशियाँ लचीली होती हैं और उनमें संकोचन तथा विमोचन (contraction and relaxation) की क्रियायें होती हैं। इसीसे मासपेशियाँ हमें कार्य करने में सहायता पहुँचाती हैं। साधारण दशा में मास-



चित्र १३—मासपेशियाँ

पेशियाँ ढीली रहती हैं अर्थात् वे विमोचन (relaxation) की अवस्था में रहती हैं। किन्तु जब मस्तिष्क से नाडियाँ (nerves) किसी कार्य की सूचना किसी मासपेशी तक पहुँचाती हैं तब उस मासपेशी में उसी कार्य के अनुसार सकोचन होता है। इससे उस अग में गति उत्पन्न होती है। इसी गति से उस माशपेशी से सम्बन्धित अगो का कार्य होता है। इस प्रकार सकोचन व विमोचन की क्रिया द्वारा शरीर के सब कार्य होते हैं।

मांसपेशियों का कार्य—मासपेशियों के कार्य को समझने के लिये हम भुजा की एक मासपेशी का उदाहरण लेते हैं। ऊपरी बाहु में अन्दर की ओर एक बड़ी



चित्र १४—भुजा मे बाइसेप्स मासपेशी
[A बाइसेप्स की साधारण अवस्था में भुजा सीधी है,
B बाइसेप्स के सङ्कोचन से भुजा मुड़ी है]

मासपेशी है जिसे बाइसेप्स (biceps) कहते हैं। बाइसेप्स ऊपर की तरफ दो कंडरों द्वारा कंधे की हड्डी से और नीचे की तरफ एक कंडर द्वारा अग्रबाहु की हड्डी से जुड़ी रहती है। जब हमें किसी काम के लिए हाथ को ऊपर उठाना होता है तो उसकी सूचना नाड़ियों द्वारा इस मासपेशी में पहुँचती है। फलत बाइसेप्स सकुचित होती है और लम्बाई में छोटी हो जाती है। चूकि ऊपरी सिरा ऐसी हड्डी से जुड़ा है जो हिल नहीं सकती इस कारण अग्रबाहु की हड्डी को ही बाइसेप्स सकुचित होने पर ऊपर खींचती है (देखो चित्र १४)। फल यह होता है कि अग्रबाहु ऊपर उठ जाता है। सकोचन हटने पर हाथ फिर नीचे गिर जाता है।

कुछ ऐसे भी कार्य हैं जो इच्छा न करने पर भी होते हैं, जैसे रक्त सचालन, पाचन-क्रिया आदि। इस प्रकार के कार्य करने वाली मासपेशियाँ अनैच्छिक मासपेशियाँ (involuntary muscles) कहलाती हैं। ये आमाशय, अतड़ियों, हृदय, फेफड़े, आँख आदि में पायी जाती हैं। जो मासपेशियाँ हमारी इच्छा के अनुसार काम करती हैं वे ऐच्छिक मासपेशियाँ (voluntary muscles) कहलाती हैं। ऐच्छिक मासपेशियों के कार्यों का पूरा नियन्त्रण मस्तिष्क द्वारा होता है। इस प्रकार हमारे शरीर में दो प्रकार की मासपेशियाँ हैं—अनैच्छिक और ऐच्छिक। हर एक मासपेशी किस प्रकार का काम करती है यह उसकी गठन और उसके तथा हड्डियों के सम्बन्ध पर भी निर्भर करता है।

स्वास्थ्य—इस प्रकार हम देखते हैं कि मासपेशियों का हमारे जीवन में एक मुख्य स्थान है। इनको स्वस्थ रखना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनकी स्वस्थता के लिए यह आवश्यक है कि इनसे बराबर काम लिया जाय। काम न लिए जाने से ये शक्तिहीन हो जाती हैं और तब किसी भी प्रकार का काम करने में असमर्थ हो जाती हैं। काम करते रहने के साथ-साथ मासपेशियों मे शुद्ध रक्त का सन्चार होना भी आवश्यक है। हमारे शरीर के अंग अपना भोजन रुधिर से ही पाते हैं। यदि शुद्ध रुधिर मिलेगा तो मासपेशियों को अपनी आवश्यकतानुसार

भोजन मिल सकेगा, अन्यथा नहीं। यदि उचित भोजन नहीं मिलेगा तो उनकी शक्ति घट जायगी और वे ठीक से कार्य नहीं कर सकेंगी। अतः अपने भोजन पर ध्यान देना चाहिए। भोजन उचित होने पर हमारा स्वास्थ्य ठीक रहेगा। स्वास्थ्य ठीक होने पर स्वभावत रुधिर भी शुद्ध और शक्तिवर्द्धक होगा।

मासपेशियों मे प्रोटीन की मात्रा बहुत होती है। कार्य करने से इनमें जो क्षति होती है उसकी पूर्ति के लिए इन्हे प्रोटीन चाहिए। अतः हमें अपने भोजन में प्रोटीन की आवश्यक मात्रा रखने का सदा ध्यान रखना चाहिये।

उक्त दोनो बातों के साथ-साथ मासपेशियों को विश्राम की भी आवश्यकता है। जैसे कार्य न करने से ये शक्तिहीन हो जाती हैं वैसे ही लगातार अपनी शक्ति से अधिक कार्य करते रहने से भी इनकी शक्ति घट जाती है। इसका कारण यह है कि जब कोई मासपेशी काम करती है तो उसमें कुछ मल-पदार्थ (waste matter) एकत्रित हो जाता है। इस मल-पदार्थ को हटाना आवश्यक है। यदि मासपेशी को कुछ समय कार्य करने के बाद आराम नहीं मिलता तो यह मल-पदार्थ बहुत अधिक मात्रा मे एकत्र हो जाता है। तब इसके हटाने मे अधिक समय और शक्ति खर्च होती है। साथ ही जितनी देर तक यह उस स्थान पर रहता है माशपेशी को हानि ही पहुँचाता है। कोई काम करने पर जब हम थकान मालूम करें तो हमे समझना चाहिए कि शरीर के उस अग विशेष में मल-द्रव्य काफी मात्रा मे एकत्र हो चुका है और अब उस अग को विश्राम की आवश्यकता है। इस बात पर ध्यान न देने से अपने ही शरीर को कष्ट होता है। यह एकत्रित मल-पदार्थ उस अग विशेप मे पीड़ा (muscular pain) उत्पन्न करता है। अतः मासपेशियों को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनसे उचित रीति से काम लिया जाय और उन्हे आवश्यकतानुसार विश्राम भी दिया जाय। विश्राम की अवस्था में उस मासपेशी के मल-द्रव्य को रक्त अपने साथ बहा कर ले जाता है और शुद्ध रक्त वहाँ पहुँचकर उसे शक्ति प्रदान करता है। इसीसे कुछ देर विश्राम करने के बाद हम उसी थकी हुई मासपेशी को थकान रहित और कोई भी काम करने के लिए तैयार पाते हैं।

प्रश्न

(१) मांसपेशियाँ क्या है ? हमारे शरीर में इनका क्या उपयोग है ?

(२) मासपेशियों का हमारे शरीर की गति से क्या सम्बन्ध है ?

(३) ऐच्छिक और अनैच्छिक मासपेशियों में क्या अन्तर है ?

(४) मांसपेशियों को स्वस्थ कैसे रखा जा सकता है ?

(५) यदि किसी मासपेशी से लगातार कई सप्ताह तक कोई भी काम न लिया जाय तो उस पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ?

तीसरा अध्याय

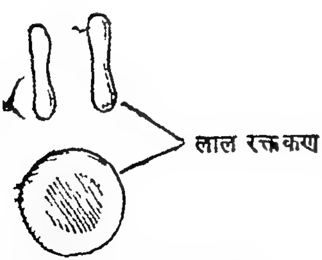
रक्त संस्थान

रुधिर जीवन का रस है। जब तक शरीर में रुधिर का संचार है तब ही तक जीवन है। अतः रुधिर और उससे सम्पर्क रखने वाले अगों की देखभाल अत्यंत आवश्यक है।

रक्त का रूप

रुधिर लाल रङ्ग का एक तरल पदार्थ है। यदि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखा जाय तो मालूम होगा कि यह साधारण दृष्टि से ही लाल रग का दिखलाई देता है, वास्तव में यह हल्के पीले रंग का एक तरल पदार्थ है जिसे रक्तवारि (plasma) कहते हैं। इस रक्तवारि में लाल और सफेद रगों के छोटे छोटे कण (corpuscles) होते हैं। लाल कणों को लाल रक्तकण (red blood corpuscles) और सफेद कणों को श्वेत रक्तकण (white blood corpuscles) कहते हैं।

लालकण—ये गोल तथा चपटे (disc) आकार के होते हैं। ये बीच में पतले तथा चारों ओर मोटे होते हैं। इनमें हीमोग्लोबिन (haemoglobin) नामक एक लाल रङ्ग का पदार्थ होता है। हीमोग्लोबिन के ही कारण लाल रक्तकण लाल रग के दिखलाई देते हैं। फेफड़ों में वायु के सम्पर्क में आने पर ये अपने अन्दर आक्सिजन (oxygen) खूब मात्रा में एकत्र कर लेते हैं और फिर इसे सब अंगों तक पहुँचाते हैं।



चित्र १५—लाल कण

श्वेत कण—ये लालकणों की अपेक्षा बड़े होते हैं पर इनका कोई निश्चित रूप नहीं होता। ये अपने रूप को बराबर बदलते रहते हैं। ये संख्या में भी लालकणों की अपेक्षा कम होते हैं। इनकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि ये बाहरी जीवाणुओं को, जो किसी प्रकार शरीर में पहुँच जाते हैं, नष्ट कर देते हैं। ये शरीर के टूटे हुये तन्तुओं की मरम्मत करने में भी सहायता करते हैं। शरीर में कहीं चोट लग जाने पर ये वहाँ पहुँचते हैं, वहाँ के दूषित पदार्थों



चित्र १६—श्वेत रक्त-कण

को बाहर निकालते हैं और उस स्थान की मरम्मत करते हैं। घावों से जो पीप निकलती है वह श्वेतकणों के टूटे हुए भाग हैं जो दूषित पदार्थों को निकालने में स्वयं नष्ट हो गये हैं। इस प्रकार इनसे हमारे जीवन की रक्षा में सहायता मिलती है।

रक्त में भोजन तत्व कैसे मिलते हैं?—अंतड़ियों की दीवार पर खून की छोटी-छोटी पतली नलियों का जाल फैला रहता है। पचने के बाद भोजन अंतड़ियों की दीवार से होकर इन पतली नलियों के खून में मिल जाता है। इस प्रकार प्रोटीन, चर्बी, खनिज नमक, विटामिन, नाइट्रोजन आदि सभी भोजन तत्व रक्त में पहुँच जाते हैं। खून भ्रमण करता हुआ इन भोजन तत्वों को शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचा देता है। शरीर के सब भागों में भोजन पहुँचाने के साथ-साथ खून प्रत्येक भाग में पैदा हुये मल पदार्थों को अपने साथ लाकर विसर्जन स्थान में पहुँचाता है जहाँ से वे शरीर के बाहर निकाल दिये जाते

है। इन दोनों कार्यों की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि खून का बहाव शरीर के प्रत्येक भाग में उचित रूप से हो।

रक्त का जमना—रक्त के प्रोटीन में जमने का गुण होता है। जब कहीं चोट लगने के कारण रक्त निकलता है तो हम देखते हैं कि थोड़ी सी देर बहने के पश्चात् वह जमने लगता है। रक्त के जमने से घाव का मुँह ढक जाता है जिससे फिर वहाँ से नया रक्त नहीं बहने पाता। यदि रक्त मे इस प्रकार जमने का गुण न हो तो चोट से बराबर रक्त बहता रहे।

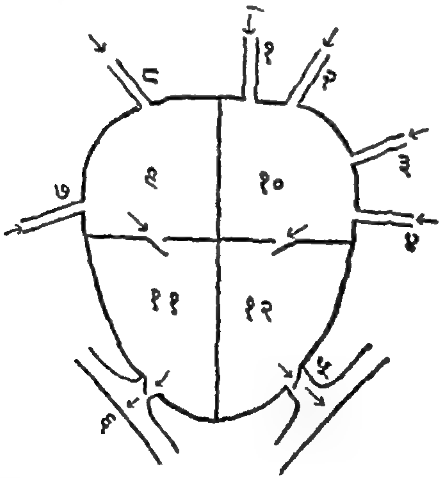
रक्त संचार के अंग

रक्त को एकत्र करना और रक्त के बहाव को ठीक रखना हृदय का काम है। हृदय की उपमा हम एक धौंकनी से दे सकते हैं क्योंकि यह बराबर धौंकनी की तरह काम करता रहता है। शरीर के सब स्थानों से रुधिर रक्तनलियों द्वारा हृदय में पहुँचता है और पुन. हृदय द्वारा पम्प किया जाकर शरीर के सब भागों मे पहुँच जाता है। जो रक्त-नलियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से रक्त एकत्र करके हृदय में पहुँचाती हैं उन्हें शिरायें (veins) कहते हैं और जो नलियाँ हृदय से शुद्ध रक्त को शरीर के विभिन्न भागो की ओर ले जाती हैं उन्हें धमनियाँ (arteries) कहते हैं। शरीर के विभिन्न भागो मे पहुँच कर धमनियाँ छोटी-छोटी नलिकाओं में विभक्त होती जाती हैं और अन्त में बालों के समान बहुत पतली अगणित नलिकाओं में विभक्त होकर शरीर भर मे एक जाल के रूप में फैल जाती हैं। इन पतली नलिकाओं को केशिकायें (capillaries) कहते हैं। ये केशिकायें शरीर के छोटे से छोटे भाग में रक्त पहुँचाती हैं। इन केशिकाओं से रक्त एकत्रित होकर शिराओं में और फिर शिराओं से हृदय में पहुँचता है। इस प्रकार रक्त सञ्चार का यह काम चलता रहता है।

हृदय—रक्त संस्थान का मुख्य अंग हृदय है। यह छाती की हड्डी के पीछे मध्य भाग में पसलियों द्वारा बने हुए कोष्ठ में स्थित है। बीच में होते हुए भी यह बायीं ओर कुछ अधिक झुका हुआ है।

हृदय का आकार कुछ-कुछ नाशपाती का सा होता है। इसका चौड़ा भाग ऊपर की ओर तथा पतला भाग नीचे की ओर रहता है। इसकी लम्बाई लगभग ५ इंच, चौड़ाई २½ इंच तथा मुटाई (बीच) में २½ इंच होती है। यों साधारणत यह समझा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति का हृदय उसकी अपनी मुट्ठी के बराबर होता है। यह दोहरी झिल्ली के घने थैले में, जो हृद-आवरण (pericardium) कहलाता है, सुरक्षित रहता है। यह दोहरी झिल्ली पारदर्शक होती है। इसके बीच में एक तरल पदार्थ सदा मौजूद रहता है जो हृदय की हर प्रकार के झटकों व चोटों से रक्षा करता है।

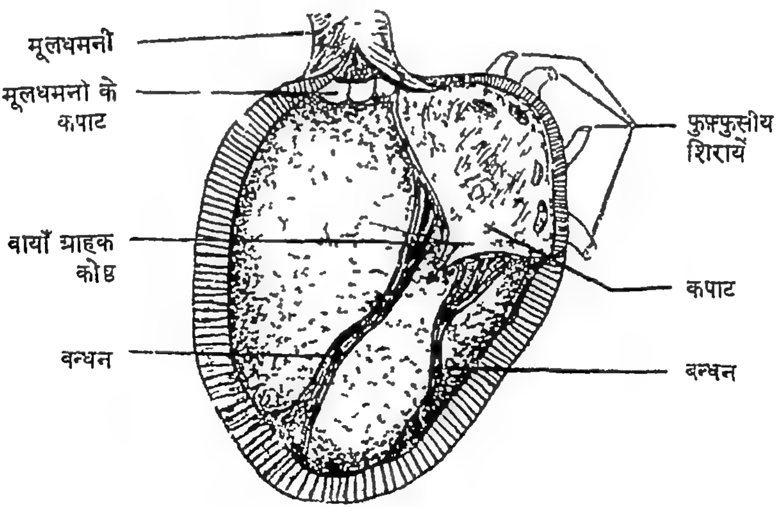
हृदय लम्बाई से एक झिल्ली द्वारा दो भागों में विभक्त है। यह झिल्ली पतली पर बड़ी मजबूत होती है और किसी भी प्रकार रुधिर के धक्के से टूटती नहीं।



चित्र १७—हृदय का मानचित्र

[१—४ फुफ्फुसीय शिरायें, ५ मूलधमनी, ६ फुफ्फुसीय धमनी, ७ निम्न महाशिरा, ८ उच्च महाशिरा, ९ दायाँ ग्राहक कोष्ठ, १० बायाँ ग्राहक कोष्ठ ११ दायाँ क्षेपक कोष्ठ, १२ बायाँ क्षेपक कोष्ठ।]

इस झिल्ली की बायीं ओर शुद्ध रुधिर और दाहिनी ओर अशुद्ध रुधिर रहता है। प्रत्येक भाग पुन. एक आडी झिल्ली द्वारा दो भागों में विभक्त होता है। इस प्रकार हृदय के चार भाग होते हैं—दो ऊपर के और दो नीचे के। ऊपर के दोनों भागों को **ग्राहक कोष्ठ** (auricles) और नीचे के दोनों भागों को **क्षेपक कोष्ठ** (ventricles) कहते हैं। ग्राहक कोष्ठ क्षेपक कोष्ठों से कुछ छोटे होते हैं। एक ग्राहक कोष्ठ से दूसरे ग्राहक कोष्ठ के बीच में तथा एक क्षेपक कोष्ठ से दूसरे क्षेपक कोष्ठ के बीच में कोई मार्ग नहीं रहता, किन्तु प्रत्येक ओर के ग्राहक कोष्ठ और उसके नीचे के क्षेपक कोष्ठ के बीच मे एक छेद रहता है जिस पर एक **कपाट** (**valve**) लगा रहता । इन कपाटों की यह विशेषता है कि वे केवल एक ओर को ही खुलते हैं और जिस ओर को ये खुलते हैं उस ओर को ही इनसे होकर रक्त बह सकता है, विरुद्ध दिशा की ओर नहीं। प्रत्येक ओर के ग्राहक कोष्ठ और क्षेपक कोष्ठ के बीच का कपाट क्षेपक कोष्ठ की ओर खुलता है।



चित्र १८—हृदय
[लम्बाई से कटा हुआ]

अत ग्राहक कोष्ठ से रक्त इसी मार्ग द्वारा केवल क्षेपक कोष्ठ में ही जा सकता है। क्षेपक कोष्ठ से रक्त ग्राहक कोष्ठ में वापस नहीं जा सकता।

फेफड़ों में शुद्ध होने के बाद रक्त चार फुफ्फुसीय शिराओं द्वारा हृदय मे आता है। ये फुफ्फुसीय शिरायें बायें ग्राहक कोष्ठ से मिलती हैं और उसी में रक्त लाकर भरती हैं। इसके बाद यह रक्त बायें क्षेपक कोष्ठ में पहुँच जाता है। क्षेपक कोष्ठ से शुद्ध रक्त बाहर निकलने के लिये एक मोटी नली बनी है जिसे मूलधमनी कहते हैं। इसी में होकर रक्त शरीर में भ्रमण करने के लिये हृदय के बाहर आता है। शरीर में भ्रमण करता हुआ और वहाँ की गन्दगी को एकत्र करता हुआ सब रक्त दो बड़ी शिराओं मे पहुँचता है। ये शिरायें दाहिने ग्राहक कोष्ठ में मिलती हैं। यहाँ से यह अशुद्ध रक्त दाहिने क्षेपक कोष्ठ में पहुँचता है। इसके भरने पर इससे रक्त बाहर निकलने के लिये एक मोटी नली बनी है जिसे फुफ्फुसीय धमनी कहते हैं। इसमें होकर अशुद्ध रक्त हृदय के बाहर निकलता है और दो शाखाओं में बँट कर दोनों फेफड़ों में पहुँचता है।

धमनियाँ—बायें क्षेपक कोष्ठ मे एकत्रित हुए शुद्ध रक्त को शरीर के विभिन्न भागों मे ले जाने के लिए यहाँ से एक मोटी नली निकलती है। यह मोटी नली मूलधमनी (aorta) कहलाती है। मूलधमनी हृदय से कुछ ऊपर पहुँच कर गोलाई से बायीं ओर मुड़ती हुई (मेहराब की तरह) नीचे की ओर मुड़ जाती है। मूलधमनी के मेहराब वाले भाग से तीन शाखायें निकलती हैं। पहली शाखा कुछ आगे बढ़ कर फिर दो शाखाओं मे बँट जाती है—एक शाखा दाहिनी भुजा मे और दूसरी ग्रीवा के दाहिनी ओर से सिर मे रक्त ले जाती है। मूलधमनी की दूसरी शाखा ग्रीवा के बायीं ओर से सिर और चेहरे में तथा तीसरी शाखा बायीं भुजा मे रक्त ले जाती है। गोलाई से मुड़ने के बाद मूलधमनी हृदय के पीछे की ओर से आकर लगभग नितम्ब अस्थि तक एक सीधी मोटी शाखा के रूप में जाती है, किन्तु इस बीच में भी इससे कई शाखायें निकलती हैं। ये शाखायें धड़ व पेड़ू में स्थित विभिन्न अंगों—आमाशय, यकृत, प्लीहा, गुर्दे व आँतों आदि—में जाती हैं। नितम्ब अस्थि के समीप पहुँच कर मूलधमनी की मुख्य शाखा दो

शाखाओं में बँट जाती है। एक शाखा दाहिनी टाँग में और दूसरी बायीं टाँग में जाती है। मूलधमनी से निकलने वाली ये सब शाखायें अनेक शाखा प्रशाखाओं में बँट कर छोटी छोटी रक्त-नलियों में विभाजित होती जाती हैं और शरीर के प्रत्येक भाग में रक्त पहुँचाती हैं। अन्त में ये रक्त-नलियाँ अगणित सूक्ष्म केशिकाओं में विभक्त होकर एक जाल के रूप में समस्त शरीर में फैल जाती है (चित्र २१)

रक्त-नलियाँ छोटी-छोटी सूक्ष्म मासपेशियों और पतली झिल्ली से बनती हैं। इनमें स्थान स्थान पर कपाट होते है जो इनके रक्त की गति पर नियन्त्रण रखते हैं। धमनियो की यह विशेषता है कि इनमे रक्त का प्रवाह सदा हृदय से विपरीत दिशा में अर्थात् विभिन्न अगों की ओर होता है। धमनियों में रक्त का प्रवाह शीघ्रता से व झटके के साथ होता है।

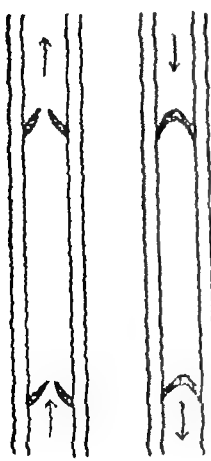
केशिकायें—ये धमनियों की बालो के समान सूक्ष्म शाखायें है और शरीर के छोटे से छोटे सेलों तक पहुँचकर उन तक रुधिर पहुँचाती हैं। इनमें रक्त का प्रवाह धमनियों की अपेक्षा धीरे-धीरे और एक समान गति से होता है।

केशिकाओं की दीवार बहुत पतली झिल्ली की होती है। प्रत्येक अग के सेल केशिकाओं के रक्त से ही अपने भोजन तत्त्व चूसते हैं और उनके अन्दर के मल पदार्थ केशिकाओं की पतली झिल्ली से छन कर रक्त में मिल जाते हैं। इन मल पदार्थों को अपने में लेने से केशिकाओं का शुद्ध रक्त गदा हो जाता है और साथ ही उसके पोषक तत्व भी समाप्त हो जाते हैं। गदा होने पर रक्त कुछ गाढ़ा भी हो जाता है। आगे बढ़ने पर केशिकाये क्रमशः परस्पर जुड़कर कुछ मोटी नलियाँ बनाने लगती हैं जिनमे गदा रक्त पहुँचता है। ये गदे रक्त की नलियाँ ही छोटी-छोटी शिरायें हैं।

शिरायें—सब अगों से अशुद्ध रक्त एकत्र करने वाली छोटी छोटी शिरायें क्रमशः परस्पर मिल कर बडी शिरायें बनाती जाती हैं। अन्त में दो मुख्य बड़ी शिरायें बनती हैं—एक धड के निचले भाग में और दूसरी धड के ऊपरी भाग में। निचले भाग की शिरा **निम्न महाशिरा** (inferior vena cava)

कहलाती है और दोनों टाँगो, पेडू, आमाशय आदि का अशुद्ध रक्त एकत्रित करती हैं। ऊपरी भाग की शिरा उच्च महाशिरा (superior vena cava) कहलाती है और दोना भुजाओ, ग्रीवा, सिर व चेहरे के गंदे रक्त को एकत्रित करती है। ये शिरायें इस अशुद्ध रक्त को हृदय के दायें ग्राहक कोष्ठ में पहुँचाती हैं (चित्र २२)।

शिराओं में गंदा रक्त रहता है। गंदा होने के कारण इनका रक्त गाढ़ा भी होता है और बहुत ही धीरे-धीरे प्रवाहित होता है। शिराओं में कपाटों का ऐसा प्रबन्ध है कि रक्त की गति सदैव हृदय की दिशा मे अर्थात् अंगो से हृदय की ओर होती है।



चित्र २०—रक्त-नलियो में कपाट

शिरा और धमनी मे अन्तर—शिरा और धमनी की बनावट मे अन्तर होता है। धमनी की दीवार मोटी और शिरा की पतली होती है। धमनी मे ऐसे कपाट होते हैं जो सदा हृदय से विपरीत दिशा की ओर खुलते हैं जिससे रुधिर सदा हृदय से विरुद्ध दिशा की ओर ही बहता है। शिराओं में स्थित कपाटो की यह विशेषता है कि इनमें रुधिर सदा अगो से हृदय की ओर ही बहता है। इनके रक्त में भी अन्तर होता है धमनी का रक्त शुद्ध होने से लाल और चमकीला होता है तथा झटके के साथ बहता है, जैसे किसी फव्वारे से जल का प्रवाह हो रहा हो। शिराओं का रक्त धमनियों के रक्त की अपेक्षा गाढ़ा और गहरे मटमैले लाल रंग का होता है तथा इसमें चमक बिल्कुल भी नहीं होती तथा धीरे धीरे शांति से प्रवाहित होता है। जब किसी घाव से रक्त का प्रवाह होता है तो इन्हीं बातों से हम पहचानते हैं कि शिरा कटी है अथवा धमनी, और फिर उसी के अनुकूल उपचार करते हैं।

रक्त-परिभ्रमण

हम पढ़ चुके हैं कि शरीर में भ्रमण करने के बाद जब रक्त गंदा हो जाता है तो विभिन्न अंगों से एकत्रित किया जाकर दो बड़ी शिराओं, उर्ध्व महशिरा तथा निम्न महाशिरा, द्वारा हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में पहुँचता है। दाहिने ग्राहक कोष्ठ से रक्त उर्ध्व तथा निम्न महाशिराओं में वापस नहीं जा सकता, क्योंकि इन शिराओं और ग्राहक कोष्ठ के संगम स्थान पर ऐसे कपाट लगे रहते हैं जो खून का बहाव ग्राहक कोष्ठ से इन शिराओं की ओर होने पर तुरन्त बन्द हो जाते है।

रक्त से पूरा भर जाने पर दाहिना ग्राहक कोष्ठ संकुचित होता है और अपने रक्त को बीच के मार्ग से नीचे के क्षेपक कोष्ठ में भेज देता है। जब दाहिना क्षेपक कोष्ठ रक्त से भर जाता है तो इसमें भी संकुचन होता है जिससे रक्त यहाँ से एक नली में जाता है जो फुफ्फुसीय धमनी (pulmonary artery) कहलाती है। कपाट के कारण रक्त क्षेपक कोष्ठ से ग्राहक कोष्ठ में वापस नहीं जा सकता। जिस समय क्षेपक कोष्ठ संकुचित होने लगता है उस समय ग्राहक कोष्ठ फैलना आरम्भ कर देता है जिससे उसमें रक्त फिर शिराओं से भरने लगता है। इस प्रकार एक नियमित क्रम से क्षेपक और ग्राहक कोष्ठ में संकोचन और प्रसार होने से रक्त की गति सदा एक निश्चित दिशा में बनी रहती है।

हृदय से आगे बढ़ने पर फुफ्फुसीय धमनी दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। एक शाखा दाहिने फेफड़े में तथा दूसरी बायें फेफड़े में जाती है। फेफड़ों में पहुँच कर दोनों शाखायें क्रम से विभक्त होती हुई अन्त में केशिकाओं के रूप में सारे फेफड़े में फैल जाती हैं। फेफड़ों में श्वास द्वारा शुद्ध वायु पहुँचती है। यह शुद्ध वायु जब केशिकाओं के अशुद्ध रक्त के सम्पर्क में आती है तो इसका आक्सिजन रक्त में मिल जाता है और रक्त की कार्बन डाइ-आक्साइड आदि दूषित गैसें रक्त से बाहर निकल कर फेफड़े की बची हुई वायु में मिल जाती हैं और प्रश्वास द्वारा फेफड़ों से बाहर निकल जाती हैं। इस प्रकार समस्त शरीर का

अशुद्ध रक्त हृदय से होता हुआ फेफड़ों में पहुँचता है और वहाँ उसकी शुद्धि होती है।

प्रत्येक फेफड़े से शुद्ध रक्त दो फुफ्फुसीय शिराओं (plumonary veins) द्वारा बायें ग्राहक कोष्ठ में पहुँचता है। बायें ग्राहक कोष्ठ के भर जाने पर इसका संकोचन होता है जिससे इसके और बायें क्षेपक कोष्ठ के बीच का कपाट खुल जाता है और रुधिर उसमें भरने लगता है। बायाँ क्षेपक कोष्ठ भर जाने पर संकुचित होता है और उसका शुद्ध रक्त मूलधमनी में पहुँचता है। मूलधमनी से विभिन्न शाखायें निकलती हैं जो फिर शाखाओं-प्रशाखाओं में बँटकर शरीर के प्रत्येक अंग में रक्त पहुँचाती हैं*। शरीर के विभिन्न अंगों में पहुँचा हुआ यह रक्त पुन शिराओं द्वारा एकत्रित किया जाकर उच्च तथा निम्न महाशिराओं द्वारा फिर हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में पहुँचता है। इस प्रकार रक्त-परिभ्रमण का एक चक्र पूरा होता है।

रक्त परिभ्रमण का क्रम सदा अटूट गति से चलता रहता है, यह नहीं कि एक क्रिया के होते समय दूसरी क्रिया रुकी रहे। रक्त का शरीर में भ्रमण, उसका हृदय में पहुँचना, फेफड़ों में उसकी सफाई होना, फिर फेफड़ों से हृदय में वापस आकर मूलधमनी द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों में पहुँचना, सब कार्य नियमित रूप से होते रहते हैं।

रक्त का बहाव ऊपर बतलाये हुए क्रम के अनुसार ही सदा एक निश्चित दिशा में होता है। हम पढ़ चुके हैं कि विरुद्ध दिशा में रक्त का बहाव रोकने के लिये धमनियों व शिराओं में हृदय की भाँति ही जगह जगह कपाट रहते हैं जो केवल एक ओर को ही खुलते हैं। विरुद्ध दिशा में बहाव होने पर कपाट बन्द हो जाते हैं और इस कारण उल्टी दिशा में बहाव नहीं हो सकता।

रक्त की गति—सब स्थानों पर रक्त की गति उस स्थान विशेष के संकोचन-विमोचन पर निर्भर करती है। हृदय के कोष्ठों की मांसपेशियों में संकोचन और

* इनका विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

विमोचन की क्रिया एक नियमित रूप से होती है। जब ग्राहक कोष्ठ भर जाता है तो उसमें सकोचन होता है। सकोचन से उसका रक्त आगे क्षेपक कोष्ठ की ओर बढ़ता है। जब क्षेपक कोष्ठ रक्त भरने से पूरा फैल चुकता है तो उसमें भी रक्त को बाहर निकालने के लिये सकोचन क्रिया होती है। क्षेपक कोष्ठ के सकोचन से रक्त उससे सम्बन्धित नली मे चला जाता है। दोनों ओर के ग्राहक कोष्ठ एक साथ ही फैलते और सिकुड़ते हैं। जिस समय ग्राहक कोष्ठ फैलते रहते हैं क्षेपक कोष्ठ सकुचित होकर रक्त बाहर निकालते हैं। जब ग्राहक कोष्ठ सकुचित होने लगते हैं तब क्षेपक कोष्ठ फैल कर उनका रक्त ले लेते हैं। हृदय में इस प्रकार की सकोचन विमोचन की क्रियायें एक मिनिट में ७२ बार होती है, अर्थात् हृदय में एक मिनिट में ७२ बार रक्त आता और ७२ ही बार उसमें से बाहर निकलता है। हृदय की इस गति (धड़कन) को हम हृदय पर हाथ रखकर अनुभव कर सकते हैं।

जब क्षेपक कोष्ठ से रक्त मूलधमनी में आता है तो एक झटके के साथ आता है। मूलधमनी का कुछ भाग फैल कर उस रक्त को ग्रहण कर लेता है और फिर सकुचित होकर उसे आगे बढ़ाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण धमनियो में रक्त की गति नली के फैलने और सिकुड़ने पर निर्भर करती है। धमनियों में रक्त की गति उन स्थानों पर अनुभव क जा सकती है जहाँ धमनियाँ हड्डियों के ऊपर और त्वचा के समीप रहती हैं, जैसे कलाई पर।

नाड़ी-स्पन्दन

जिस प्रकार एक पप से पानी झटके के साथ निकलता है उसी प्रकार हृदय से रक्त झटके के साथ मूलधमनी में आता है। इस झटके के कारण धमनियों में भी रक्त-प्रवाह झटके के साथ होता है और फलस्वरूप धमनियाँ ऊपर नीचे उठती-बैठती मालूम होती हैं। जिन स्थानों पर धमनियाँ त्वचा के समीप हैं वहाँ रक्त के बहाव का झटका सरलता से अनुभव किया जा सकता है। ये स्थान नाड़ी-स्पन्दन स्थान (pressure points) कहलाते हैं। इन स्थानों पर अगुली रखकर दबाने से हम उस स्थान की धमनी में होने वाले रक्त-प्रवाह के

झटके को अनुभव कर सकते हैं और गिन कर उसकी गति मालूम कर सकते हैं, जैसे कलाई पर। यह गति एक स्वस्थ मनुष्य में एक मिनिट में ७२ बार होती है। इसके कम या अधिक होने का सम्बन्ध शरीर की अस्वस्थ दशा से रहता है। इसी से डाक्टर लोग इसे गिन कर मनुष्य के स्वास्थ्य का अनुमान लगा लेते हैं। इसी को नब्ज या नाडी (pulse) गिनना कहते हैं। हृदय पर हाथ रखकर उसकी धड़कन गिनने से भी यही बात मालूम होती है। नाड़ी स्पन्दन अनुभव करने के स्थान हमारे शरीर में १४ हैं (देखो चित्र २२)।

रक्त के कार्य

रक्त के छः काम हैं —

(१) हम पढ़ चुके हैं कि रुधिर भोजन प्रणाली से भोजन तत्वों को शोषित करता है। भोजन तत्वों को लेकर जब रुधिर समस्त शरीर में भ्रमण करता है तो सब अंगों में उन तत्वों को पहुँचा कर उनकी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता है।

(२) हमारे शरीर के प्रत्येक अंग को कार्य करने के लिये शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति भोजन तथा शरीर में संगठित अन्य तत्वों के आक्सीकरण (oxidation) से प्राप्त होती है। आक्सीकरण के लिये आक्सिजन की आवश्यकता होती है। रक्त ही फेफड़ों की वायु से आक्सिजन लेकर शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचाता है।

(३) आक्सीकरण की क्रिया के फलस्वरूप शरीर के प्रत्येक भाग में कार्बन डाइ-आक्साइड, यूरिया, यूरिक अम्ल, गंदा पानी आदि मल पदार्थ एकत्रित होते रहते हैं। प्रत्येक अंग के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह आवश्यक है कि वहां से ये मल पदार्थ बराबर हटते रहें। रक्त इन मल पदार्थों को अपने साथ लेकर उन अंगों तक पहुँचाता है जो इन्हें शरीर के बाहर निकालते हैं, जैसे फेफड़े, गुर्दे व त्वचा। इन मल पदार्थों के बाहर निकलने की क्रिया सविस्तार

यथास्थान बतलाई जायगी। अत. शरीर के मल पदार्थों को बाहर निकालने में सहायता पहुँचाना रक्त का तीसरा कार्य है।

(४) रुधिर के श्वेतकरण हानिकारक जीवाणुओ को नष्ट करने की क्षमता रखते हैं। जब किसी रोग के जीवाणु हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं तो हमारे श्वेतकरण उनसे युद्ध कर उन्हें नष्ट करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। यदि श्वेतकरण विजयी होते हैं तो हमें रोग नहीं हो सकता। इसके विपरीत यदि बाहरी जीवाणुओं की शक्ति या सख्या अधिक हुई और श्वेतकरण हार गये तो हम रोगग्रस्त होते हैं। इस प्रकार रोगों से रक्षा करना भी रक्त का एक काम है।

(५) शरीर में कुछ ऐसी नलीहीन ग्रन्थियाँ हैं जिनमें उपयोगी रासायनिक तत्व बनते हैं। रक्त इनके रासायनिक तत्वा का अपने साथ लेकर समस्त शरीर में पहुँचाने का कार्य भी करता है।

(६) रक्त शरीर के ताप को समान रखता है, किसी अग को गर्म और किसी को ठढा नहीं होने देता।

प्रश्न

(१) रक्त क्या है? इसकी शरीर में क्या उपयोगिता है?
(२) हृदय के आकार, बनावट व कार्यों का स क्षिप्त वर्णन कीजिये।
(३) नाडी स्पन्दन क्या हैं? हमारे स्वास्थ्य से इसका क्या सम्बन्ध है?
(४) निम्नलिखित पर अपने विचार प्रकट कीजिये—
 (क) श्वेतकरण शरीर के सैनिक हैं।
 (ख) धमना तथा शिराओं में भेद तथा उनका कार्य (हाई स्कूल परीक्षा १९५३)।
(५) रक्त परिभ्रमण से क्या समझते है? यह क्रिया शरीर में किस प्रकार होती हैं? चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिये। (हाई स्कूल परीक्षा १९५३)।

चौथा अध्याय

श्वासोच्छ्वास संस्थान

हमारे जीवन के लिये वायु सबसे आवश्यक वस्तु है। भोजन व जल भी हमारे जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, परन्तु वायु की महत्ता इन सबसे अधिक है। बिना भोजन व पानी के मनुष्य कुछ समय तक जीवित रह सकता है, किन्तु बिना वायु कुछ क्षण भी जीवित रहना असंभव है।

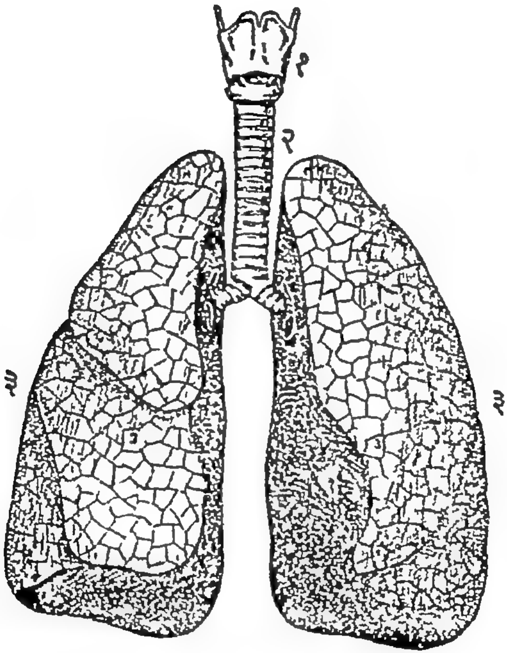
वायु हमारे शरीर में श्वास के साथ जाती है। श्वास के बाहर निकलने पर वायु फिर बाहर निकल आती है। इस प्रकार हमारे शरीर में वायु के अन्दर आने और बाहर निकलने की क्रिया बराबर होती रहती है। इस क्रिया को श्वासोच्छ्वास क्रिया कहते हैं। इस क्रिया में भाग लेने वाले अंग ये हैं—नाक, टेंटुआ (wind pipe or trachea), श्वासनली या वायु-प्रणाली (bronchi) और फेफड़े।

नाक—नाक के दोनों छिद्रों से होती हुई वायु नासिका-नली (nose cavity) में पहुँचती है। नासिका-नली का भीतरी सिरा टेंटुये के ऊपरी सिरे से मिला हुआ है।

टेंटुआ—टेंटुआ छाती की हड्डी के पीछे और भोजन नली (gullet) के आगे स्थित है। यह लगभग साढ़े चार इंच लम्बी एक नली है। इसका ऊपरी सिरा गले के पास है। यहाँ पर नाक से आई हुई वायु इसमें प्रवेश करती है। इसका गले के पास का भाग चौड़ा है और स्वरयंत्र (larynx) कहलाता है। जब हम बोलते हैं तो आवाज यहीं से आती है।

भोजननली टेंटुये के पीछे है। अतः भोजन मुख से भोजन-नली में जाते समय टेंटुये के ऊपर से होकर जाता है। भोजन टेंटुये में चला न जाय इस हेतु टेंटुये के मुख पर एक पर्दा (flap) लगा रहता है जो प्रत्येक बार भोजन के

निकट आने पर टेंटुये को ढक देता है और भोजन के भीतर चले जाने पर खुलकर वायु के प्रवेश के लिये मार्ग बना देता है। प्रायः जल्दी-जल्दी भोजन करने से या भोजन करते समय अधिक बोलने या हँसने से भोजन के कण टेंटुये में चले जाते हैं। ऐसा होने पर तुरन्त खाँसी आती है जिससे भोजन के कण टेंटुये से बाहर निकल आते हैं।



चित्र २३—फेफड़े

१—स्वरयंत्र, २—टेंटुआ, ३—फेफड़े

टेंटुआ छल्लेदार गोल मासपेशियों से बना है। इसका भीतरी पर्त श्लैष्मिक झिल्ली से बना है। नीचे के सिरे पर यह दो शाखाओं में विभाजित हो जाता है। ये शाखायें वायु-प्रणालियाँ या श्वास-नलियाँ (bronchial tubes) कहलाती हैं। प्रत्येक वायु-प्रणाली अपनी ओर के फेफड़े में जाती है। फेफड़ों

में पहुँचकर दोनों वायु-प्रणालियाँ अनेक शाखाओं प्रशाखाओं में विभाजित होती हुई अन्त में नन्हें-नन्हें थैलों के से आकार में समाप्त होती हैं। इन थैलों को वायु-कोष (air sacs) कहते हैं।

फेफड़े—फेफड़े दो होते हैं। छाती की हड्डी के दोनों ओर एक-एक फेफड़ा स्थित है। फेफड़ों का ऊपरी भाग कुछ पतला और नीचे का भाग चौड़ा होता है। फेफड़ों का निचला भाग वक्षोदर-मध्यस्थ पेशी के ऊपर टिका रहता है।

प्रत्येक फेफड़ा एक दोहरी झिल्ली के थैले में सुरक्षित रहता है। यह थैला फुफ्फुसावरण (pleura) कहलाता है। इन दोनों झिल्लियों के बीच में एक तरल पदार्थ रहता है जो किसी भी प्रकार की रगड़, झटके या चोट से फेफड़ों की रक्षा करता है।



चित्र २४—वायुकोष

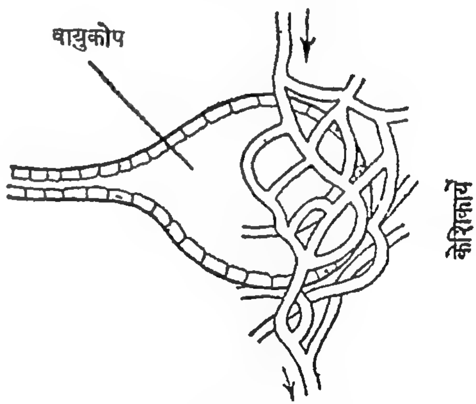
फेफड़ों में श्वासनलियों की छोटी-छोटी शाखाओं प्रशाखाओं के झुण्ड से बन जाते हैं। इन्हीं नन्ही-नन्हीं शाखाओं और वायु-कोषों के झुण्डों के कारण फेफड़ों की बनावट स्पंज जैसी दिखलाई देती है। अशुद्ध रक्त लाने वाली फुफ्फुसीय धमनियों की शाखायें-प्रशाखायें भी इस जाल के साथ-साथ सब जगह फैली रहती हैं।

फेफड़ों के पोषण के लिये शुद्ध रक्त लाने वाली रक्त-नलियाँ, नाड़ियाँ आदि भी समस्त फेफड़ों में फैली रहती हैं।

श्वासोच्छ्वास क्रिया—श्वास अन्दर खींचने पर बाहर की वायु नाक की नली से होकर टेंटुये और श्वासनलियों से होती हुई फेफड़ों के वायु कोषों में पहुँचती है। वायुकोषों की दीवारें बहुत ही पतली होती हैं और ठीक इन दीवारों के नीचे और इनसे सटकर रक्त-केशिकाओं की असंख्य नलियाँ फैली रहती हैं। इन रक्त-केशिकाओं की दीवारें भी बहुत पतली झिल्ली की बनी होती हैं। हृदय से आया हुआ अशुद्ध रक्त इन रक्त-केशिकाओं से होता हुआ धीरे-धीरे प्रवाहित

होता है। रक्त-केशिकाओं में जिस समय अशुद्ध रक्त धीरे-धीरे प्रवाहित होता है, उस समय इस अशुद्ध रक्त और वायुकोषों में भरी शुद्ध वायु के बीच केवल दो पतली दीवारों का ही अन्तर रहता है। इन पतली दीवारों के भीतर से होकर गैसें एक ओर से दूसरी ओर आ-जा सकती हैं। केशिकाओं में पहुँचे अशुद्ध रक्त में आक्सिजन की मात्रा बहुत कम रहती है और कार्बन-डाइ-आक्साइड की बहुत अधिक। वायुकोषों में पहुँची शुद्ध हवा से आक्सिजन वायुकोषों और केशिकाओं की दीवारों के भीतर से होकर केशिकाओं के रक्त में घुस जाती है और अशुद्ध रक्त की कार्बन-डाइ-आक्साइड गैस केशिकाओं और वायुकोषों की पतली दीवारों से होकर वायुकोषों में बची वायु में मिल जाती है। अशुद्ध रक्त में आक्सिजन पहुँच जाने और कार्बन-डाइ-आक्साइड निकल जाने से वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार फेफड़ों में अशुद्ध रक्त की सफाई होती है और फिर यह शुद्ध रक्त हृदय में पहुँच जाता है।

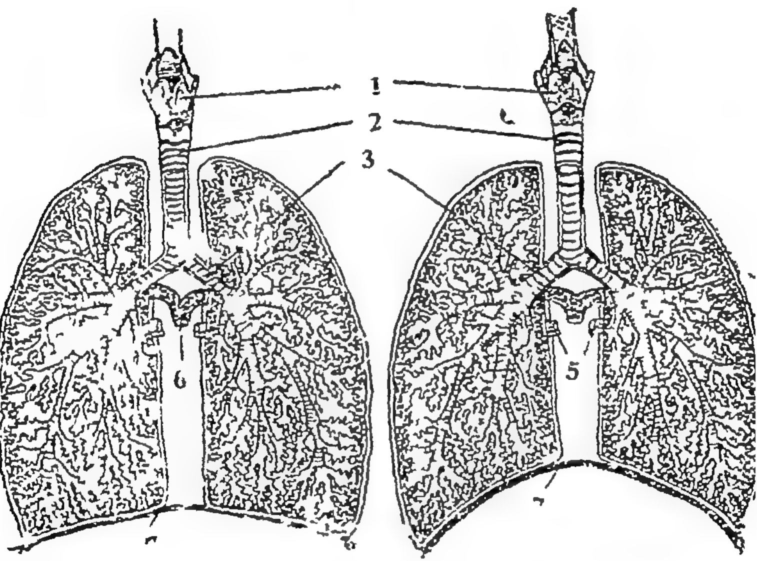
केशिकाओं के रक्त और वायुकोषों में भरी हवा के बीच जब आक्सिजन और कार्बन-डाइ-आक्साइड गैसों का परस्पर आदान-प्रदान हो चुकता है तो वायुकोषों की बची हवा में कार्बन-डाइ-आक्साइड की मात्रा बहुत हो जाती है। यह हवा अशुद्ध हवा कहलाती है क्योंकि अब इसमें आक्सिजन कम हो जाने के कारण यह अशुद्ध रक्त की सफाई के योग्य नहीं रहती। श्वास बाहर फेंक कर इस अशुद्ध वायु को हम बाहर निकाल देते हैं और दूसरी शुद्ध वायु फिर अन्दर खींच लेते हैं। वायु अन्दर फेफड़ों में ले जाने को श्वास क्रिया और अन्दर की वायु बाहर निकालने को



चित्र २५—वायुकोष और रक्त-केशिकायें

प्रश्वास क्रिया कहते हैं। श्वास और प्रश्वास दोनों सम्मिलित क्रियाओं को श्वासोच्छ्वास क्रिया कहते हैं।

श्वासोच्छ्वास क्रिया निम्न प्रकार से होती है। वक्षोदरमध्यस्थ पेशी सिकुड़ती है। सिकुड़ने से यह कुछ नीचे दब जाती है। अन्य मासपेशियों पर खिंचाव पड़ने से पसलियाँ भी ऊपर को उठती हैं। इन क्रियाओं के फलस्वरूप



चित्र २६—मनुष्य का श्वासोच्छ्वास

[बायीं ओर श्वास अन्दर लेने की दशा में फेफड़े हैं और दाहिना ओर प्रश्वास की दशा में, (1) स्वरयंत्र, (2) टेटुआ, (3) श्वास नलियाँ, (4) वायुकोष, (5) फुफ्फुसीय शिरायें, (6) फुफ्फुसीय धमनियाँ, (7) वक्षोदर मध्यस्थ पेशी]

वक्षस्थल में फेफड़ों को फैलने के लिये स्थान मिलता है और वे फैल जाते हैं। फेफड़ों के फैलने से बाहर की वायु नाक के छिद्रों से खिंच कर फेफड़ों में पहुँच जाती है। अब वक्षोदरमध्यस्थ पेशी फैलती है और ऊपर उठती है। पसलियाँ

अपने पूर्व स्थान पर आती हैं, अत वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के ऊपर उठने से फेफड़ों पर दबाव पड़ता है और वे सिकुड़ जाते हैं जिससे उनके अन्दर की हवा प्रश्वास के रूप में नाक के छिद्रों से बाहर निकल जाती है। प्रत्येक बार श्वास व प्रश्वास की क्रिया में ये सब क्रियायें होती हैं। इसीसे जोर से श्वास लेने पर हम वक्षस्थल को ऊपर उठता-बैठता देख सकते हैं।

मनुष्य एक मिनिट में १४ से १८ बार तक साँस लेता है। अधिकतर मनुष्य एक मिनिट में १७ बार साँस लेते हैं। छोटे बच्चे एक मिनिट में २० से २८ बार तक साँस लेते हैं। इसके दो कारण हैं :—(१) बच्चे अधिक गहरी साँस नही ले सकते जिससे आक्सिजन की आवश्यकता पूरी करने के लिये उन्हें अधिक बार साँस लेना पड़ता है, (२) बच्चे बड़े चचल होते हैं और उनके शरीर की क्रियायें शीघ्रता से होती हैं। इसके फलस्वरूप उनके शरीर में रक्त सचालन अधिक तीव्र गति से होता है जिससे उन्हें साँस भी जल्दी-जल्दी लेने की आवश्यकता पड़ती है।

आमाशय या यकृत की किसी प्रकार की बीमारी में, ऐडीनोयडस् (adenoids), प्ल्यूरिसी (pleurisy), ब्रौंकाइटिस (bronchitis) तथा किसी भी प्रकार के ज्वर में श्वासोच्छ्वास की क्रिया की गति बढ़ जाती है।

मुख से श्वास लेना हानिकर है। बहुत से लोग मुख से भी साँस लेते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। ऐसा करने से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। हमारी नाक के छिद्रो मे छोटे छोटे बाल होते हैं। वायु में धूल आदि के जो कण मिले रहते हैं वे इन बालो से रुक कर नाक में ही रह जाते हैं, फेफड़ो तक नहीं पहुँच पाते। मुख से श्वास लेने में इन धूल के कणों से फेफड़ों की रक्षा का कोई साधन नहीं है। अत धूल के कण वायु के साथ फेफड़ों तक पहुँच जाते है।

नाक में जो श्लेष्मा (mucous) रहती है वह जीवाणुनाशक (disinfectant) का काम करती है और इस प्रकार वायु के सब जीवाणु नाक में ही नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त नाक से होकर भीतर

जाने में अधिक ठंढी या अधिक गर्म वायु का तापक्रम रक्त के तापक्रम के बराबर हो जाता है। साथ ही बाहर की शुष्क वायु श्लेष्मा के सम्पर्क से कुछ नम भी हो जाती है। इसके विपरीत मुख से श्वास लेने पर वायु ठंढी और शुष्क दशा में तथा धूल व जीवाणु सहित फेफड़ों में पहुँचती है। इसी कारण मुख से श्वास लेने से गले के रोग (sore throat), टॉन्सिल बढ़ना (tonsilitis), ब्रौंकाइटिस, तपेदिक, दाँत के रोग, डिपथीरिया (diphtheria), स्कारलेट ज्वर (scarlet fever) तथा बहरापन (deafness) जैसे रोगों के होने की संभावना अधिक रहती है। अत स्वास्थ्य की दृष्टि से मुख से श्वास लेना अत्यन्त हानिकर है।

स्वास्थ्य और श्वासोच्छ्वास संस्थान—हमारे स्वास्थ्य का श्वासोच्छ्वास संस्थान से गहरा सम्बन्ध है। अत श्वासोच्छ्वास संस्थान को स्वस्थ रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये उचित व्यायाम ही एकमात्र साधन है। फेफड़ा के व्यायाम में हमें गहरी साँस लेना व छोड़ना चाहिये। इससे फेफड़ों में दृढ़ता आती है। गहरी साँस लेने से फेफड़ों में पूरी तरह वायु भी भर जाती है जिससे रक्त की शुद्धि अधिक अच्छी तरह होती है। रक्त शुद्ध होने से समस्त शरीर का स्वास्थ्य ठीक रहता है। अतः सदा श्वास सम्बन्धी व्यायाम अवश्य करते रहना चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि खुले स्थान पर और शुद्ध वायु में व्यायाम किया जाय, अन्यथा यदि वायु अशुद्ध होगी तो लाभ के स्थान पर हानि ही होगी।

प्रश्न

(१) श्वासोच्छ्वास संस्थान क्या है? इसका विस्तृत वर्णन कीजिये।

(२) वायु हमारे रक्त को कैसे शुद्ध कर देती है?

(३) श्वास लेने की हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है?

(४) नाक से साँस लेना क्यों स्वास्थ्यकर माना जाता है? मुख से श्वास लेने में क्या हानियाँ हैं?

(५) श्वासोच्छ्वास संस्थान से क्या समझना है ? यह किस प्रकार शरीर की गन्दगी को बाहर निकालता है ? (हाईस्कूल परीक्षा, १९५२)

(६) श्वास के कौन कौन से अंग शरीर में हैं ? फुफ्फुसों की रचना का वर्णन कीजिये, तथा समझाइये कि श्वसन-क्रिया में उनमें क्या क्या परिवर्तन होते हैं तथा श्वसन से शरीर को क्या लाभ होता है। चित्र खींच कर अपना उत्तर स्पष्ट कीजिये। (हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

पाँचवा अध्याय

पोषक संस्थान

प्रत्येक जीव के लिये भोजन बहुत आवश्यक है। जिस प्रकार एक रेल के इंजन को चलाने के लिये उसे शक्ति देने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रत्येक जीव को भी उसके कार्य के लिये शक्ति चाहिये। इंजन को शक्ति कोयले से मिलती है। कोयला जलता है और गरमी के रूप में शक्ति पैदा करता है। जीवों को शक्ति भोजन से मिलती है। शरीर के अन्दर भोजन पदार्थ भी इंजन के कोयले की भाँति बहुत धीरे धीरे जलते हैं और शक्ति उत्पन्न करते हैं। हमारे शरीर के भिन्न भिन्न अंगों को बनाने तथा उनकी वृद्धि करने के लिये जिन जिन तत्वों की आवश्यकता पड़ती है उनकी भी पूर्ति भोजन द्वारा ही होती है।

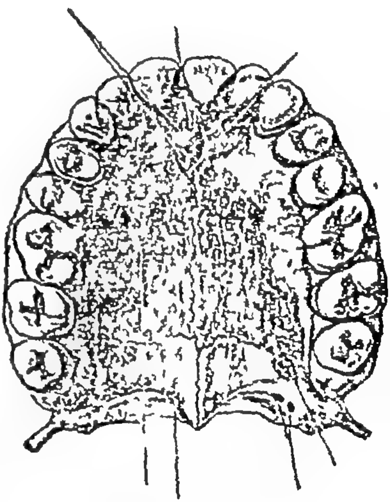
पोषक संस्थान अथवा पाचन संस्थान में निम्न अंग सम्मिलित हैं—मुख, भोजननली (gullet), आमाशय, (stomach), अँतड़ियाँ (intestines) और मलाशय, (rectum)। इनके अतिरिक्त यकृत (liver), क्लोम (pancreas) और तिल्ली या प्लीहा (spleen) भी भोजन पचाने की क्रिया में सहायता देते हैं।

मुख

पोषक संस्थान के अन्तर्गत अंगों में मुख का एक विशेष स्थान है। यह अन्न पचाने में चक्की का काम करता है। जैसे चक्की में पिसकर साबित अनाज चूर-चूर हो जाता है वैसे ही मुख में दाँतों द्वारा चबाये जाने पर खाया हुआ भोजन बारीक टुकड़ों में टूट जाता है। जितनी ही अच्छी तरह अपने दाँतों से हम भोजन को चबाते हैं उतना ही महीन वह पिस जाता है और उतनी ही सरलता व शीघ्रता से पचता है। दाँत मसूढ़ों में मजबूती से जमे रहते हैं। मुख के ऊपर का भाग

तालुआ (palate) कहलाता है। जीभ (tongue) भोजन को मुख में एक ओर से दूसरी ओर हटाने में तथा गले के नीचे ले जाने में सहायता देती है। जीभ के ऊपर नन्हें-नन्हें दाने (papillae) होते हैं। इन्हें स्वाद-कलियाँ (taste-buds) कहते हैं। इन्हीं के द्वारा स्वाद का अनुभव होता है। गले में तथा दाँतों के पीछे मुख में तीन जोड़ी ग्रन्थियाँ (glands) होती हैं जिनमें लार (saliva) बनती है। जब हम दाँतों से भोजन को चबाते हैं तो ये लार-ग्रन्थियाँ क्रियाशील हो उठती हैं और उनसे निकल कर लार भोजन में मिल जाती है। लार में टायलिन (ptyalin) नामक एक फर्मेंट होता है जो स्टार्च को शक्कर में बदल देता है।

दाँत—दाँतों से भोजन चबाया जाता है, अत दाँत बड़े आवश्यक और उपयोगी हैं। बच्चा जब जन्म लेता है तब उसके मुख में एक भी दाँत नहीं रहता और यही कारण है कि बालक कोई भी ठोस पदार्थ नहीं खा सकता। दूध या अन्य तरल पदार्थ, जैसे फलों का रस, जिनमें चबाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, उसका भोजन होते हैं।



चित्र २७—दाँत

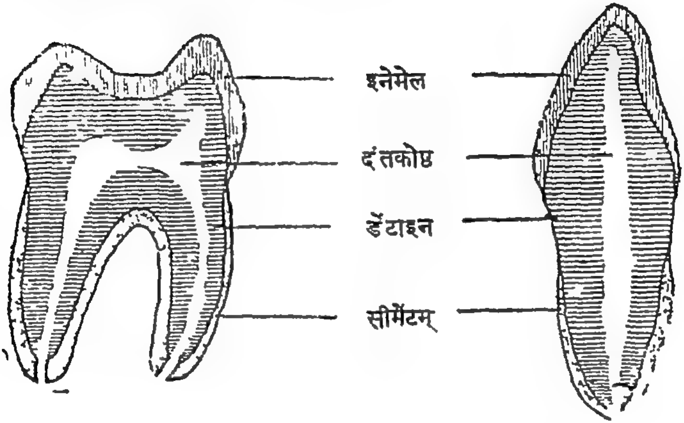
हम लोगों के दाँत दो बार निकलते हैं। जब बालक छः या सात मास का होता है तब उसके दाँत निकलने आरम्भ होते हैं तथा दो वर्ष की आयु तक पूरे २८ दाँत निकल आते हैं। ये दूध के दाँत (milk teeth) कहलाते हैं। सच बात यह है कि दाँत इस अवस्था पर शरीर में कहीं से अचानक नहीं आ जाते। जन्म से ही ये मसूड़ों के अन्दर मौजूद रहते हैं और धीरे धीरे वहीं पर बढ़ते रहते हैं और समय आने पर मसूड़ों के बाहर निकल आते हैं। दूध के दाँतों के नीचे मसूड़ों के भीतर स्थायी दाँतों (permanent teeth) की जड़ें भी आरम्भ

से ही मौजूद रहती हैं और ये वहीं पर धीरे-धीरे बढ़ते और मजबूत होते रहते हैं। जब बालक लगभग छः वर्ष का होता है उस समय तक कुछ स्थायी दाँत आवश्यकतानुसार बढ़ चुकते हैं और तब ये दूध के दाँतों को आगे की ओर ठेलते हैं। परिणामस्वरूप दूध के दाँतों की जड़ें कमजोर पड़ जाती हैं और छः वर्ष की आयु से दूध के दाँत गिरना आरम्भ हो जाते हैं। जब कोई दूध का दाँत गिर जाता है तब उसके नीचे का स्थायी दाँत कुछ ही दिनों बाद उसके स्थान पर बाहर निकल आता है। इस प्रकार होते-होते १२ से १४ वर्ष तक की आयु में सब दूध के दाँत गिर जाते हैं और उनकी जगह स्थायी दाँत निकल आते हैं। लगभल २० वर्ष की आयु तक स्थायी दाँत २८ ही रहते हैं। उसके बाद ऊपर तथा नीचे के जबड़ों में दोनों ओर एक-एक डाढ़ और निकलती है। ये चार डाढें बुद्धि-डाढ़ (wisdom teeth) कहलाती हैं। इस प्रकार युवावस्था में पहुँचने पर दाँतों की सख्या ३२ हो जाती है। कभी-कभी लोगों के एक, दो या तीन ही बुद्धि-डाढ़ निकल कर रह जाती हैं। उस दशा में दाँतों की सख्या कम रहती है।

प्रत्येक जबड़े के दाँतों को हम चार समूहों में बाँटते हैं। सामने के चार दाँत छेदक दन्त (incisors) कहलाते हैं। ये भोजन को पकड़ कर काटने का काम करते हैं। इनके दोनों ओर एक-एक दाँत होते हैं जो सुआ (canine teeth) कहलाते हैं। ये नुकीले तथा अन्य दाँतों की अपेक्षा लम्बे होते हैं। ये भी काटने का काम करते हैं। इनके बाद दोनों तरफ चार-चार डाढें होती हैं। पहली दो डाढें अग्रचवर्णक दन्त (premolars) तथा पिछली दो चवर्णक दन्त (molars) कहलाती हैं। बुद्धिदाँत भी इस श्रेणी (चवर्णक दन्त) में आते हैं। अत. इनके निकलने पर चवर्णक दन्त की सख्या प्रत्येक ओर तीन-तीन हो जाती है।

दाँत की बनावट—दाँत का जितना भाग हम देखते हैं लगभग उतना ही, वरन् उससे अधिक, भाग मसूड़ों के अन्दर छिपा रहता है। पूरे दाँत को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—शिखर (crown), ग्रीवा (neck) और मूल

(root)। मसूड़े के ऊपर दाँत का जो भाग हम देखते हैं वह शिखर कहलाता है। मसूड़े के अन्दर दबा हुआ भाग ग्रीवा कहलाता है। ग्रीवा के नीचे का सिरा दाँत की जड़ या मूल है। जबड़े की हड्डी के बीच में दाँतों के लिये स्थान बने रहते हैं और उन्हीं में दाँत मजबूती से जकड़े रहते हैं। जबड़े की हड्डी के इन गड्ढों को एलवियोली (alveoli) कहते हैं।



चित्र २८—दाँत की बनावट

अन्दर से दाँत खोखला होता है। इस खोखले भाग को दन्तकोष्ठ (pulp cavity) कहते हैं और इसमें एक प्रकार का गूदा, दन्त मज्जा (pulp), भरा रहता है। इस भाग में रक्तनलियाँ तथा नाड़ियाँ रहती हैं। दाँत जिस वस्तु से बना है वह रदिन या डेंटाइन (dentine) कहलाती है। दाँत की जड़ के पास के भाग में डेंटाइन के ऊपर सीमेंटम् (cementum) नामक एक कड़े पदार्थ की पतली पर्त रहती है। शिखर पर सीमेंटम् का पर्त न होकर इनेमेल (enamel) नामक एक दूसरे पदार्थ की पर्त रहती है। इनेमेल बहुत कड़ा होता है और दाँतों को मजबूती देता है। इसके कारण दाँत चबाने का कार्य करने में घिसते नहीं। दाँतों की सफेदी भी इनेमेल के कारण ही होती है। जब दाँतों का इनेमेल निकल जाता है तो दाँतों की चमक और सफेदी कम हो जाती है।

कोई खाद्य सामग्री दाँतो के बीच मे फँसी रह जाने से सड़ने लगती है और धीरे-धीरे उसका विष दाँतों पर असर करने लगता है। इससे ऊपर का इनेमेल खराब होकर नष्ट होने लगता है और दाँत देखने में खराब लगने लगते हैं। साथ ही इनेमेल के कड़े पर्त के (जो भीतरी दाँत की रक्षा का साधन है) हट जाने से विष आसानी से अन्दर पहुँच जाता है और फिर वहाँ के गूदे को सड़ाने लगता है। गूदे के खराब होने से दाँत खोखला होकर बेकाम हो जाता है और शीघ्र ही टूट जाता है। इतना ही नहीं, मुख में स्थित यह विषैला पदार्थ भोजन में मिल जाता है और फिर भोजन के साथ आमाशय में पहुँच कर पाचनशक्ति को भी खराब करता है और इसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। अत मुख और दाँतों के सम्बन्ध में बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है।

भोजन-प्रणाली (alimentary canal)

मुख से मलद्वार तक एक नली है जिसे भोजन-प्रणाली कहते हैं। इसकी दीवार दो पर्तों की बनी हुई है। बाहरी पर्त कड़ी और मजबूत है। इसमें मासपेशियाँ रहती हैं। इन मासपेशियों के ऊपर एक पतली चिकनी झिल्ली का पर्त चढ़ा है जो पेरीटोनियम कहलाता है। भीतर की ओर की दूसरी पर्त श्लैष्मिक झिल्ली (mucous membrane) कहलाती है। यह मुलायम, चिकनी व लसीली होती है। ये दोनों पर्तें बन्धक तन्तुओं द्वारा आपस में एक दूसरे से बँधी रहती हैं। भोजन-प्रणाली के स्थान-स्थान पर विभिन्न आकार हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं, जैसे भोजननली, आमाशय, आँत आदि।

भोजननली—गले से आमाशय तक का भाग भोजननली कहलाता है। गले से उतर कर भोजन इस नली से होता हुआ आमाशय में पहुँचता है। यह नली लगभग १५ इन्च लम्बी है और गोल छल्लेदार मासपेशियों से बनी है जो भोजन पहुँचने पर क्रम से फैलती और सिकुड़ती हैं। इनकी इस क्रिया से भोजन पिस कर महीन भी हो जाता है और साथ ही नीचे आमाशय की ओर भी खिसकता जाता है।

आमाशय—यह मशक के आकार का एक थैला है। इसका चौड़ा सिरा बायीं ओर रहता है। यहाँ पर श्लैष्मिक झिल्ली लम्बी पर्तों के रूप में पाई जाती है। आमाशय के चारों ओर की दीवारों में आड़ी, पड़ी तथा तिरछी छोटी मांस-पेशियाँ होती हैं। जब आमाशय में भोजन भरा रहता है तो श्लैष्मिक झिल्ली की लम्बी पर्तें खिचकर बराबर हो जाती हैं। आमाशय के खाली रहने पर ये अन्दर की ओर उभरी हुई रहती हैं। इनके अन्दर की ओर उभरे रहने के कारण भोजन-नली और आमाशय के संगम स्थान का छिद्र दबा हुआ मालूम पड़ता है। भोजन-नली से भोजन के आने पर उभरा हुआ भाग खिचकर फैल जाता है और नली का छिद्र खुल जाता है। भोजननली और आमाशय के मिलने का स्थान ऊपरी द्वार या कारडिया (cardia) कहलाता है। कारडिया पर श्लैष्मिक झिल्ली की लम्बी पर्तें बहुत ही कम रहती हैं और इससे थोड़ा ही हटकर बिलकुल गायब हो जाती हैं। आमाशय की श्लैष्मिक झिल्ली की पर्त में छोटी छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं जिनसे एक रस निकलता है जो **आमाशयिक रस** (gastric juice) कह-लाता है। यह एक पाचक रस है। इसमें नमक का तेजाब (hydrochloric acid) तथा रेनिन (renin) और पेपसिन (pepsin) नामक दो फर्मेंट रहते हैं जिनसे भोजन के पचने में सहायता मिलती है।

आमाशय का यह रस विशेष रूप से प्रोटीन के पचाने का काम करता है। पेपसिन और नमक के तेजाब (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) के प्रभाव से प्रोटीन पहले पेपटोन में और उसके बाद एमीनो एसिड के रूप में बदल जाती है। एमीनो एसिड के रूप में बदलने पर ही प्रोटीन को रक्त अपने में ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार प्रोटीन का पाचन कार्य आमाशय में होता है।

वसा अथवा चर्बी में भी कुछ रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिससे यह वसा-अम्ल और ग्लिसरीन नामक दो पदार्थों में विभाजित हो जाती है।

मुख में लार के प्रभाव से स्टार्च शक्कर में बदल चुकती है। यहाँ पर यह शक्कर ग्लूकोज में विभाजित होकर पाचन योग्य हो जाती है।

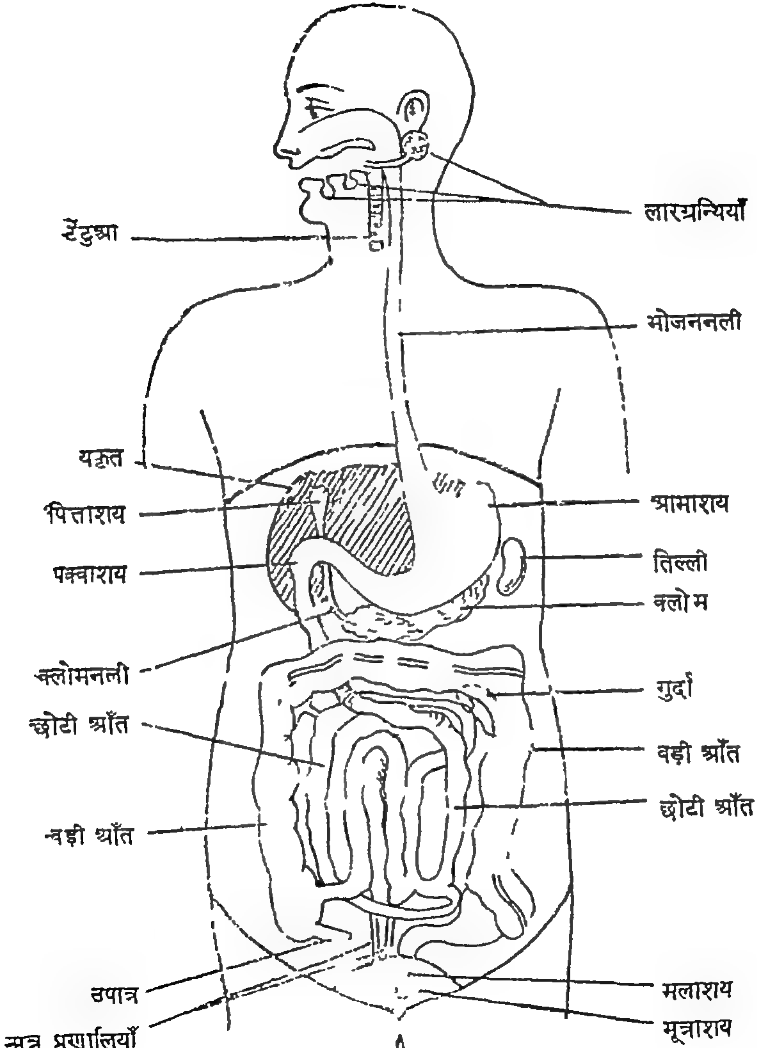
दूध पर रेनिन का प्रभाव पड़ता है और वह फट जाता है। इसके बाद उसमें स्थित प्रोटीन और वसा पर अलग-अलग रासायनिक क्रियायें होती हैं।

इन चीजों को पचने योग्य बनाने के अतिरिक्त इन रसों से एक और लाभ है। नमक के तेजाब (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) के प्रभाव से भोजन में उपस्थित बहुत से रोगों के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार हमारी रोगों से रक्षा होती है।

एक बात विशेष स्मरण रखने की है कि आमाशय भोजन को अपने रसों के प्रभाव से पचा कर इस योग्य बनाने का काम करता है कि रक्त उन्हें अपने में ग्रहण कर सके, पर रक्त में भोजन के शोषित होने का काम (assimilation) आमाशय में नहीं होता है।

छोटी आँत—आमाशय के समाप्त होने पर एक पतली नली शुरु होती है जो छोटी आँत कहलाती है। छोटी आँत आमाशय के पास U के आकार में मुड़ी रहती है। छोटी आँत के इस U वाले भाग को **पक्वाशय (duodenum)** कहते हैं। आमाशय का वह सिरा जो पक्वाशय से मिलता है पक्वाशय द्वार (pylorus) कहलाता है। यहाँ पर मांसपेशियों वाली पर्त बहुत मोटी हो जाती है जिससे आमाशय से पक्वाशय में खुलने वाला छेद बहुत छोटा रह जाता है। छोटी आँत की श्लैष्मिक झिल्ली में अगुली की तरह के बहुत से उभार अन्दर की ओर रहते हैं। इन उभारों को शोषणांकुर (villi) कहते हैं। शोषणांकुरों में रक्त-केशिकायें फैली रहती हैं। शोषणांकुरों का कार्य पचे हुए भोजन को छोटी आँत से शोषित कर खून में पहुँचाना है। आमाशय में शोषणांकुर नहीं होते। इसीलिए आमाशय तक भोजन पचने की क्रिया होती है रक्त में भोजन का शोषित होना छोटी आँत से ही आरम्भ होता है। पक्वाशय में ही पित्त और क्लोम-रस एक ही नली द्वारा आकार भोजन में मिलते हैं और उसकी पाचन-क्रिया में सहायता पहुँचाते हैं। इनका विस्तृत वर्णन आगे दिया गया है।

पक्वाशय के समाप्त होते ही छोटी आँत एक गेंडुली (coil) बनाती है। यह २२ फीट लम्बी होती है परन्तु गेंडुली बन कर थोड़ी सी जगह में आ जाती



चित्र २६—भोजन-प्रणाली

है। इसकी मासपेशियाँ भी छोटी तथा आड़ी व पड़ी दो प्रकार की होती हैं। छोटी आँत की श्लैष्मिक झिल्ली की पर्त में भी छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं जिनसे पाचन-क्रिया के समय एक पाचक-रस निकलता है जो अन्नरस (intestinal juice) कहलाता है। यह रस अन्न तक पचने से बचकर आये सभी पदार्थों को पचाता है। अन्य रसो का प्रभाव भी उपस्थित रहता है। अत उनके और अंत्ररस के प्रभाव से बचा हुआ सब भोजन यहाँ पच जाता है।

बड़ी आँत—छोटी आँत के समाप्त होते ही एक दूसरी चौड़ी नली आरम्भ हो जाती है जो बड़ी आँत कहलाती है। इसकी बनावट भी छोटी आँत की भाँति होती है। बड़ी आँत लगभग ५ फीट लम्बी होती है। यह दाहिनी ओर नीचे की तरफ से शुरू होती है। पहले कुछ दूर तक ऊपर की ओर जाती है, फिर आमाशय के नीचे शरीर के दाहिनी ओर से बायीं ओर चली जाती है। बायीं ओर आकर यह फिर नीचे की ओर मुड़ती है और मलद्वार में खुलती है। छोटी आँत में पचने के बाद भी भोजन में कुछ पाचन योग्य अश शेष रह जाता है। वह यहाँ पचकर रक्त में शोषित हो जाता है। भोजन का बिना पचा हुआ भाग, जिसे हम मल कहते हैं, मलद्वार द्वारा बाहर निकलता है। बृहत् आँत का मलद्वार के पास का कुछ दूर तक का भाग, लगभग ५ इच तक का भाग, मलाशय कहलाता है। बृहत् आँत के आरम्भिक भाग से एक लगभग ३ इच लम्बी पतली नली और लगी रहती है जिसे उपात्र (appendix) कहते हैं। इसका मुँह बन्द रहता है। उपात्र की शरीर में क्या उपयोगिता है यह ठीक से मालूम नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्यों की आदि अवस्था में इसके स्थान में कोई अग रहा होगा जिसकी उपयोगिता उस समय रही होगी। उपयोगिता घटने के साथ-साथ यह अग घटता गया और अब केवल उसका चिन्ह मात्र ही उपात्र के रूप में रह गया है।

मलाशय—जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं मलाशय वास्तव में बड़ी आत का अन्तिम भाग है। भोजन का जो अश नहीं पच पाता है, अथवा पचने योग्य नहीं होता है, वह यहाँ आकर एकत्रित होता रहता है। जब मलाशय में

मल पहुँच जाता है तब मल त्याग की इच्छा होती है। मलत्याग के समय मलाशय में शीघ्रता से संकोचन क्रिया होती है और मल मलद्वार के निकट पहुँचता है। ऐसा होने पर मलद्वार की पेशी फैल जाती है और मलद्वार खुल जाता है तथा भोजन का अवशेष भाग मल के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुख से मलद्वार तक एक ही नली है। इस पूरी नली को **भोजन प्रणाली** कहते हैं।

यकृत

यकृत आमाशय के दाहिनी ओर स्थित हमारे शरीर की सबसे बड़ी ग्रन्थि है। इसमें पीले रंग का **पित्त** (bile) नामक एक पाचक रस बनता है। यह पित्त यकृत से एक छोटी नली द्वारा, जिसे **पित्तनली** (bile duct) कहते हैं, पक्वाशय में पहुँचता है। आँत में भोजन के पचने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। बचा हुआ पित्त **पित्ताशय** (gall bladder) में एकत्रित होता रहता है। पित्ताशय यकृत के नीचे की ओर स्थित एक छोटी सी थैली है। कभी-कभी पित्तनली में किसी प्रकार का दोष हो जाने से पित्त आँतों में न पहुँच कर यकृत में ही लौट आता है और वहाँ से रुधिर में मिलकर समस्त शरीर में फैल जाता है। इस दशा में समस्त शरीर का रंग पीला हो जाता है। इसे पीलिया रोग कहते हैं।

पित्त बनाने के अतिरिक्त यकृत हमारे भोजन की अतिरिक्त चीनी को **ग्लाइकोजन** (glycogen) नामक स्टार्च में बदलने का काम भी करता है। यह ग्लाइकोजन यकृत की सेलों में एकत्रित होता रहता है और जब शरीर के किसी भाग को इसकी आवश्यकता पड़ती है तब रुधिर के साथ यकृत इसे भी वहाँ भेज देता है।

यकृत में रुधिर की केशिकाओं का एक जाल सा बिछा रहता है। आमाशय, तिल्ली आदि का अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा यहाँ आकर एकत्रित होता है और

फिर यहाँ से यकृत की शिरा (portal vein) द्वारा हृदय में जाता है। धमनियों द्वारा शुद्ध रक्त भी यकृत में पहुँचता है। यकृत रक्त के अमोनिया से यूरिया और यूरिक अम्ल भी बनाता है।

क्लोम

आमाशय के कुछ नीचे पीछे की ओर स्थित यह भी एक ग्रन्थि है। यह लगभग ६ इन्च लम्बी एक नली के से आकार की होती है। इसका एक सिरा कुछ मोटा होता है और सिर कहलाता है। यह भाग पक्वाशय के घुमाव के खाली स्थान में स्थित रहता है। इसका दूसरा सिरा पतला होता है और पूँछ कहलाता है। यह भाग प्लीहा से मिला रहता है। इस प्रकार यह ग्रन्थि लम्बाई में दाहिनी से बाईं ओर को आमाशय के पीछे की ओर स्थित है। इसमें क्लोमरस (pancreatic juice) बनता है। क्लोम-रस में चार भिन्न फर्मेंट (ferment) होते हैं जो प्रोटीन (protein), स्टार्च (starch) और चर्बी (fat) को पचाने में सहायक होते हैं। क्लोम-रस की पाचन शक्ति पित्त और छोटी आँतों के पाचकरस से मिलने पर अधिक बढ़ जाती है। वरन यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह तीनों रस जब मिलते हैं तब इनकी पाचन-शक्ति बढ़ती है। क्लोम से एक छोटी नली निकल कर पित्त-नली से मिलती है। इसे क्लोमनली कहते हैं। क्लोमरस क्लोमनली से होकर पक्वाशय में पहुँचता है। पक्वाशय में पित्तनली के मिलने का जो स्थान है ठीक उसी स्थान पर क्लोम-नली भी पक्वाशय से मिलती है। इस प्रकार पित्त और क्लोम-रस एक साथ एक ही मार्ग से पक्वाशय में पहुँचते हैं।

प्लीहा या तिल्ली

तिल्ली भोजन प्रणाली का अंग नहीं है फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि इसका पाचन-क्रिया पर विशेष प्रभाव पड़ता है। क्या और कैसे यह प्रभाव पड़ता है यह अभी तक स्पष्ट नहीं है। तिल्ली आमाशय के बायीं ओर वक्षोदर-

मध्यस्थ पेशी के नीचे स्थित एक ग्रन्थि है। रक्त के श्वेत-कण बनाने और अस्वस्थ लाल रक्तकणों को नष्ट करने तथा नये लाल कण बनाने का काम इस ग्रन्थि में होता है।

इसकी बनावट स्पंज की तरह होती है और जब किसी कारणवश रक्त का बहाव अधिक शीघ्रता से होता है तो तिल्ली अपने अन्दर पर्याप्त मात्रा में रक्त को सोख लेती है जिससे अन्य अंगों के कार्य में किसी प्रकार का विघ्न या असुविधा न हो। प्लीहा आँतों के समीप ही स्थित है और उनसे मिली रहती है। जब आँतों में भोजन पहुँचता है तब आँतों को अधिक रक्त की आवश्यकता होती है जिससे आँतों में अपना काम करने की खूब शक्ति रहे, साथ ही रक्त अधिक होने से भोजन का शोषण अच्छी तरह हो सके। अतः आँतों में भोजन पहुँचने से जैसे ही आँतें फैलती हैं, प्लीहा अपना रक्त आँतों में भेज देती है और स्वयं सिकुड़ जाती है। उसके बाद जब आँतों में भोजन का पाचन व शोषण का कार्य हो चुकता है तब आँतें सिकुड़ती हैं और तब रक्त का अधिक भाग पहले प्लीहा में ही पहुँचता है, तथा फलस्वरूप प्लीहा फिर फैल जाती है। इस प्रकार प्लीहा आँतों के लिए रक्त-भंडार का काम करती है। दोनों के बीच रक्त के आवागमन का क्रम बना रहता है। संभवतः यही इसकी पाचन क्रिया में सहायता है।

भोजन के प्रकार

हमारे भोजन में मुख्य निम्नलिखित तत्व रहते हैं—प्रोटीन (protein), वसा या चर्बी (fat), कार्बोहाइड्रेट (carbohydrate), खनिज लवण (mineral salts), विटामिन (vitamin) और जल। इनमें से पहले तीन अधिक महत्व के हैं।

अंडे के अन्दर का तरल मुख्य रूप से प्रोटीन पदार्थ है। मांस का भी अधिकांश भाग प्रोटीन ही है। चर्बी वाले पदार्थों में घी, तेल, दूध, बादाम तथा अन्य मेवे आदि हैं। कार्बोहाइड्रेट कई प्रकार के होते हैं। शक्कर और स्टार्च (starch) इनमें मुख्य हैं। चावल तथा आलू प्रधानतया स्टार्च-युक्त पदार्थ

है। गेहूँ और जव में भी स्टार्च बहुत होता है। शक्कर मीठे फलों में पाई जाती है। खजूर और ईख में बहुत शक्कर होती है।

खनिज लवण हर एक वनस्पति में शरीर की आवश्यकता के लिये पर्याप्त मात्रा में होते हैं। अधिक के लिये लोग नमक का व्यवहार करते हैं। गेहूँ या किसी और अनाज को जलाने के बाद अन्त में जो राख बच रहती है वह उस अनाज का खनिज द्रव्य है।

विटामिन कई प्रकार के होते हैं और शरीर के लिए बहुत आवश्यक हैं। शरीर पर इनका प्रभाव किस प्रकार से पड़ता है यह बात हमें अभी निश्चित रूप से नहीं ज्ञात है, किन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि इनकी अनुपस्थिति में स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और तरह-तरह के रोग शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी बहुत सूक्ष्म मात्रायें ही शरीर की आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। अतः ये इन्हीं सूक्ष्म मात्राओं में ही भोजन पदार्थों में पाये जाते हैं। विटामिन फलों, हरी सब्जियों तथा दूध में अधिक रहते हैं।

हमारे शरीर में लगभग ६० प्रतिशत अंश पानी होता है। शरीर के सभी रस तरल हैं और शरीर की पाचन क्रिया भी तरल अवस्था में ही होती है। शरीर के मांस आदि जो तत्व ठोस मालूम होते हैं उनमें भी बहुत पानी रहता है। इसी कारण जन्तु मात्र को पानी की बहुत आवश्यकता रहती है। जो पानी शरीर से भाप, पसीने तथा मूत्र आदि के रूप में बाहर निकला करता है उसकी पूर्ति भी बराबर करनी पड़ती है। भोजन के तत्वों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

पाचन-क्रिया

भोजन के पचने की क्रिया मुख से आरंभ होकर आँत के अन्तिम भाग तक बराबर होती रहती है। मुख में दाँतों से चबाये जाने पर भोजन पिस कर महीन होता है और उसमें लार मिलती है। लार की क्रिया क्षारीय होती है। लार

मे टायलिन (ptyalin) नामक एक फर्मेंट रहता है जो भोजन के स्टार्च को घुलनशील शक्कर में बदल देता है। अन्य पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं होता। वे केवल महीन पिस जाते हैं।

भोजन मुख से भोजननली में पहुँचता है। हम पढ़ चुके है कि हमारी भोजननली छल्लेदार मासपेशियों की बनी हुई है। भोजन पहुँचते ही इसकी मासपेशियों में सकोचन विमोचन की क्रियायें होने लगती हैं। इससे भोजन की खूब पिसाई होती है और इस प्रकार पिसता हुआ भोजन हमारे आमाशय में पहुँचता है। आमाशय में पहुँच कर इसमें आमाशयिक रस मिलता है। इस रस मे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा पेपसिन और रेनिन नामक दो फर्मेंट होते हैं। पेपसिन भोजन के प्रोटीन को घुलनशील पेपटोन में बदल देता है। आमाशयिक रस खट्टा होता है। अतः इसका स्टार्च पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो स्टार्च मुख में शक्कर में बदलने से बच जाता है वह आमाशय में नहीं पच पाता, वरन् आगे आँत में पहुँच कर पचता है। रेनिन दूध को जमा देता है। यहाँ से भोजन एक गाढ़ी लेई के रूप में आगे बढ़ता है और छोटी आँत में पहुँचता है। पक्वाशय में यकृत तथा क्लोम से आये हुये पित्त व क्लोमरस उसमें मिलते हैं। पक्वाशय से भोजन छोटी आँत में पहुँचता है। वहाँ पहुँचने पर आँतों की ग्रन्थियों से निकला हुआ अन्नरस उसमें मिलता है। इन सब रसों में क्लोमरस सबसे अधिक महत्व का है। इसमें कई फर्मेंट रहते हैं जिनमें ट्रिपसिन (trypsin), इरेपसिन (erepsin), एमाइलापसिन (amylopsin) और स्टिआपसिन (steapsin) मुख्य हैं। ये फर्मेंट क्षारीय अवस्था में कार्य करते हैं। ट्रिपसिन आमाशय से बचकर आई हुई प्रोटीन को पेपटोन में बदल देता है। एमाइलापसिन स्टार्च को शक्कर में बदल देता है। स्टिआपसिन चर्बी को वसाअम्ल और ग्लिसरीन में बदल देता है। ये वसाअम्ल रसों के क्षारीय द्रव्य से मिलकर कुछ साबुन भी बनाते हैं। इस साबुन की सहायता से क्लोम रस कुछ चर्बी को इमलशन (emulsion) में बदल देने का भी कार्य करता है। पित्त मुख्य रूप से चर्बी को पचाने में क्लोमरस की सहायता करता है। अन्नरस

बड़ी आँत में भोजन का जो कुछ आत्मीकरण होने योग्य शेष भाग पहुँच जाता है, उसका आत्मीकरण वहाँ हो जाता है। शेष बचा भाग शरीर के लिए व्यर्थ होता है, अत मलद्वार से मल के रूप में निकल जाता है।

भोजन-प्रणाली मे भोजन में गति कैसे होती है ?

जैसा कि हम बतला चुके हैं भोजन-प्रणाली की बाहरी दीवार मासपेशियों की बनी हुई है। इन मासपेशियों के सूत्र (fibres) दो पर्तों में प्रबन्धित हैं। अन्दर की पर्त में सूत्र आड़े ढग से (transversally) तथा बाहर की पर्त में लम्बान से (longitudinally) प्रबन्धित रहते हैं। अन्दर के आड़े सूत्रों के सकुचन से नली का छेद छोटा हो जाता है। बाहर की पर्त के लम्बान से प्रबन्धित सूत्रों के सकुचन से नली की लम्बाई मे कमी आ जाती है। इन दोनों प्रकार के सूत्रों के क्रमश. सकोचन तथा प्रसार (contraction and relaxation) के कारण भोजन-प्रणाली में आगे की ओर एक गति-लहर का सचार होता है जिसे क्रमिवत् आकुञ्चन गति (peristaltic movement) कहते हैं। इसी गति-लहर के प्रभाव से भोजन भोजन-प्रणाली मे आगे बढ़ता है। केंचुआ जमीन पर इसी प्रकार की गति द्वारा आगे रेंगता है। यह पहले अपने शरीर को आकुञ्चित करता है और फिर फैलाता है और इस क्रिया द्वारा आगे बढ़ जाता है। भोजन-प्रणाली में यह गति ऊपर से नीचे की ओर होती है। जब कभी आमाशय मे कोई ऐसा पदार्थ पहुँच जाता है जिससे जी मिचलाने लगता है तो उस समय यह गति-लहर उल्टी दिशा में अर्थात् आमाशय से मुख की ओर होने लगती है और फलस्वरूप आमाशय का पदार्थ मुखद्वार से बाहर निकल आता है। इसी को वमन करना कहते हैं। इस उल्टी लहर को विरुद्ध क्रमिवत् आकुञ्चन गति (anti-peristaltic movement) कहते हैं।

प्रश्न

(१) भोजन करना क्यों आवश्यक है ? इसका हमारे जीवन में क्या महत्व है ?

(२) भोजन-प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(३) भोजन कैसे पचता है? विस्तार से समझाइये।

(४) भोजन करने के सम्बन्ध में किन नियमों का पालन करना चाहिये?

(५) दाँत का हमारे स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है?

(६) यकृत की उपयोगिता बतलाइये?

(७) पाचन प्रणाली के विभिन्न अंगों से निकले रसों में अन्तर बतलाइये।

(हाई स्कूल परीक्षा, १९४९)

(८) पाचन के विविध पदों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५०)

(९) भोजन की पाचन क्रिया का वर्णन कीजिये। उन मुख्य अंगों का जो इस क्रिया में भाग लेते हैं चित्र खींचिये।

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(१०) निम्नलिखित पर अपने विचार प्रकट कीजिये—

(च) आमाशयिक रस का पाचन क्रिया में कार्य। (हाईस्कूल परीक्षा, १९५२)

(११) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—

(छ) दाँत कितने प्रकार के होते हैं? तथा उनका कार्य।

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

(१२) पाचन क्रिया में कौन कौन से अंग कार्य करते हैं? उनकी संरचना (structure) व कार्य (function) चित्र द्वारा समझाइये।

छठवाँ अध्याय

विसर्जन संस्थान

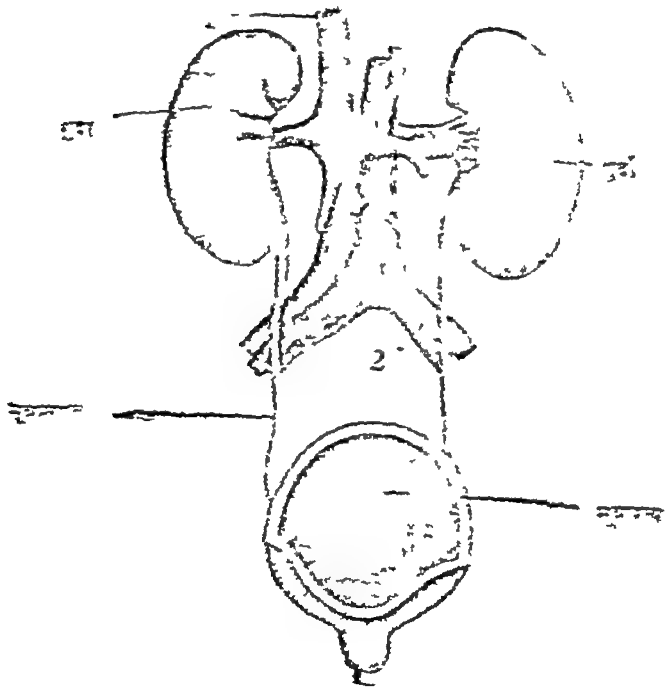
शरीर के कार्यों के फलस्वरूप हमारे शरीर की सेला व तन्तुओं में टूट-फूट होती रहती है और उनमें कुछ ऐसे विषैले व हानिकारक पदार्थ एकत्रित होते रहते हैं जिनको शरीर से बाहर निकालना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य विसर्जन सस्थान द्वारा होता है। विसर्जन सस्थान के मुख्य अग गुर्दे हैं जिनका कार्य मूत्र रूप मे शरीर के मल पदार्थों को बाहर निकालना है। अन्य अग जो विसर्जन का कार्य करते हैं, वे हैं फेफड़े, मलाशय और त्वचा। फेफड़ों व मलाशय का वर्णन हम पढ़ ही चुके हैं। त्वचा का वर्णन आगे पढेंगे।

गुर्दों की बनावट और उनके कार्य

उदर के पिछले भाग में वक्षोदर-मध्यस्थ-पेशी के नीचे दोनों ओर एक-एक गुर्दा रहता है। गुर्दे का आकार सेम के बीज की भाँति होता है। इनका भीतरी भाग पतली नलिकाओं और केशिकाओं के घने जाल से बना होता है और ठोस मालूम पड़ता है। नाड़ियों का भी इनके अन्दर जाल बिछा रहता है। गुर्दे में शुद्ध रक्त पहुँचाने वाली मुख्य धमनी गुर्दे की धमनी (renal artery) और वहाँ से अशुद्ध रक्त हृदय को ले जाने वाली शिरा गुर्दे की शिरा (renal vein) कहलाती है। गुर्दों की पतली नलिकायें तथा रुधिर की केशिकायें समीप ही समीप रहती हैं। ये नलिकायें केशिकाओं के रुधिर का अनावश्यक पानी, यूरिक अम्ल (uric acid), यूरिया (urea) तथा कुछ खनिज नमक, रक्त से अलग करके अपने में खींच लेती हैं। यही मूत्र है। यूरिया और यूरिक अम्ल विषैले पदार्थ हैं। यदि इन्हें रक्त से अलग कर शरीर से बाहर न किया जाय तो हमारा जीवित रहना असम्भव हो जाय। इन विषैले पदार्थों को शरीर से बाहर निकालने का कार्य गुर्दे करते हैं। मास तथा अन्य प्रोटीन-युक्त

भोजन से शरीर में यूरिया और यूरिक एसिड बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। अतः भोजन में नमक तथा अन्य प्रोटीनयुक्त पदार्थों की मात्रा अधिक होने से गुर्दों का काम बहुत अधिक बढ़ जाता है।

प्रत्येक गुर्दे की छोटी-छोटी नलिकायें आपस में मिलकर एक बड़ी मुख्य नली बनाती हैं जिसे मूत्रवाहिनी (ureter) कहते हैं। दोनों गुर्दों की मूत्रवाहि-



चित्र १०—गुर्दे

[illegible]

नियाँ मूत्र को एकत्रित करके मूत्राशय में ले जाती हैं। मूत्राशय [illegible]

से बना एक थैला है जो पेडू के निचले भाग में स्थित रहता है। मूत्र इसमें एकत्र होता रहता है। मूत्राशय से एक छोटी सी नली निकलकर हमारे शरीर की सतह तक पहुँचती है। इसे **मूत्रमार्ग** (urethra) कहते हैं। सतह पर बना हुआ इसका छिद्र **मूत्रछिद्र** या **मूत्रद्वार** कहलाता है। जब मूत्राशय भर जाता है तो मूत्रमार्ग से होता हुआ मूत्र मूत्रद्वार से बाहर निकलता है।

मूत्र में ९६ प्रतिशत पानी व ४ प्रतिशत यूरिया, यूरिक अम्ल, खनिज नमक आदि मल पदार्थ होते हैं। साधारणतया एक मनुष्य के मूत्र की मात्रा २ सेर के लगभग प्रतिदिन होती है। भोजन के प्रकार और ऋतु के प्रभाव के अनुसार मूत्र की मात्रा में अन्तर होता रहता है। अधिक तरल द्रव्य तथा रसीले फल खाने से इसकी मात्रा बढ़ जाती है। गर्मी में जब पसीना खूब निकलता है तो हमारे शरीर का काफी पानी पसीने द्वारा ही बाहर निकल जाता है और फलस्वरूप मूत्र की मात्रा घट जाती है। इसके विपरीत शीतऋतु मे जब पसीना बहुत ही कम निकलता है तब मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है।

विसर्जन कार्य में यकृत की सहायता

यकृत शरीर के विषैले पदार्थों को रासायनिक क्रिया द्वारा ऐसे पदार्थों में बदल देता है जो अपेक्षाकृत उतने हानिकर नही होते और जिन्हें गुर्दे सरलता से बाहर निकाल सकते हैं। वास्तव में हमारे शरीर में यूरिया और यूरिक अम्ल स्वयं उत्पन्न हुए मूल पदार्थ नहीं हैं। शरीर की क्रियाओं द्वारा अमोनिया नामक पदार्थ बनता है। यह बहुत ही विषैला और हानिकर पदार्थ है। रक्त इसे यकृत में पहुँचाता है और यकृत इसे यूरिया और यूरिक अम्ल में बदल देता है। जब रक्त में मिलकर ये पदार्थ गुर्दों में पहुँचते हैं तब गुर्दे इन्हें अलग कर शरीर से बाहर निकालते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यकृत स्वय शरीर से मल पदार्थों को बाहर नहीं निकालता किन्तु उन्हें विसर्जन योग्य बनाकर विसर्जन कार्य में सहायता है।

मल पदार्थों का विसर्जन करने वाले अन्य अङ्ग

मूत्र के अतिरिक्त शरीर में अन्य मल पदार्थ भी उत्पन्न होते रहते हैं जिनको बाहर निकालने का कार्य दूसरे अंग करते हैं। इन दूसरे अंगों में फेफड़े, मलाशय तथा त्वचा हैं।

फेफड़े—रक्त की विषैली गैस कार्बन डाइ-आक्साइड तथा जलवाष्प को फेफड़े किस प्रकार रक्त से अलग करते हैं और शरीर के बाहर निकालते हैं यह हम श्वासोच्छ्वास संस्थान के वर्णन में पढ़ चुके हैं।

मलाशय—यह हमारी बड़ी आँत का अन्तिम भाग है। हम पढ़ चुके हैं कि भोजन पचने के पश्चात् उसका जो अपाच्य व अवाञ्छनीय भाग बचता है वह मलाशय में पहुँच जाता है। यहाँ से यथा समय मलद्वार के मार्ग से यह बाहर निकलता है। इस प्रकार भोजन के बचे हुए व्यर्थ भाग को शरीर से निकालने का काम मलाशय करता है।

त्वचा—हमारे शरीर की सबसे ऊपरी पर्त त्वचा कहलाती है। शरीर के मल पदार्थ को पसीने के रूप में बाहर निकालना इसका एक मुख्य काम है। पसीने में ९८ प्रतिशत पानी तथा २ प्रतिशत अम्ल और खनिज द्रव्यों की गन्दगी होती है। त्वचा किस प्रकार रक्त से पसीने के रूप में मल पदार्थ निकालती है इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

प्रश्न

(१) विसर्जन संस्थान क्या है ? इसका हमारे शरीर में क्या कार्य है ?
(२) गुर्दों की बनावट और उनके कार्यों का वर्णन कीजिये ?
(३) क्या त्वचा भी विसर्जन कार्य में भाग लेती है ? कैसे ?
(४) गुर्दों में रक्त की शुद्धि किस प्रकार होती है ?
(५) मलोत्सर्ग सम्बन्धी अंग क्या क्या हैं ? अपने उत्तर को चित्रों से स्पष्ट । (हाईस्कूल परीक्षा, १९५१)

सातवाँ अध्याय

वात संस्थान या नाड़ी संस्थान*

हमारे शरीर मे नाडी-सस्थान का एक विशेष स्थान है। हमारा नाड़ी सस्थान हमारे शरीर के सब अगो की क्रियाओं पर नियत्रण रखता है। यदि किसी अग की नाडियाँ चोट, रोग या अन्य किसी कारण से शिथिल पड़ जाती हैं और अपना कार्य नहीं कर सकतीं तो वह अग एकदम निर्जीव सा हो जाता है और कोई भी काम नहीं कर सकता।

नाडी सस्थान की उपमा किसी प्रान्त में फैले हुए तारों के जाल से दी जा सकती है। जिस प्रकार प्रान्त म फैले हुये तारो का एक केन्द्र स्थान होता है जहाँ प्रान्त के विभिन्न भागो मे समाचार आते हैं और जहाँ से दूसरे स्थानों पर समाचार भेजे जाते हैं, उसी प्रकार शरीर म विभिन्न अगो के समाचार नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचते हैं और मस्तिष्क अपने आदेशों को नाड़ियों द्वारा शरीर के अगो को भेजता है। इस प्रकार मस्तिष्क शरीर में तारघर के समान समाचार प्राप्त करने और भेजने का कार्य करता है।

नाडी सस्थान मे सूत्र के समान नाडियाँ एक प्रधान केन्द्र से निकल कर समस्त शरीर में जाल के रूप में फैली रहती हैं। इन नाड़ियों द्वारा शरीर के विभिन्न अगो का सम्बन्ध नाड़ी सस्थान के केन्द्र से स्थापित रहता है। नाड़ियाँ दो प्रकार की होती हैं—ज्ञानवाही (sensory or afferent) और गतिवाही (motor or efferent)। ज्ञानवाही नाड़ियाँ वे हैं जो इन्द्रियों से अनुभव का ज्ञान प्राप्त कर केन्द्र तक पहुँचाती हैं। गतिवाही नाड़ियाँ वे हैं जो केन्द्र के आदेशों को इन्द्रियो तक पहुँचाती हैं।

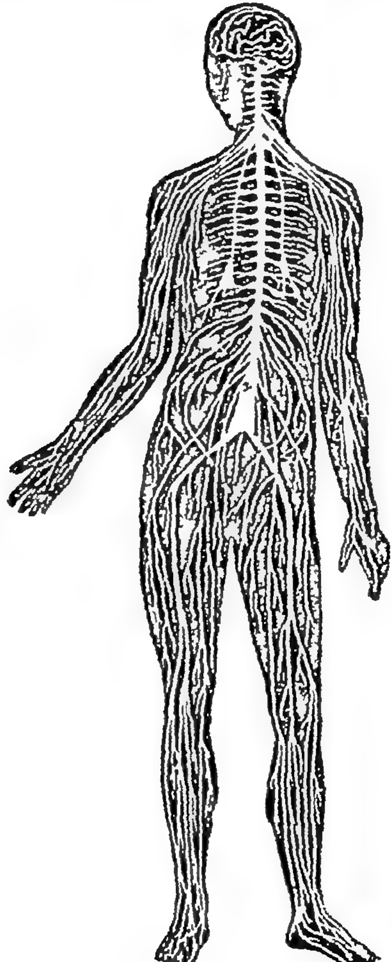
नाड़ी संस्थान के विभाग

नाड़ी सस्थान को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(१) परिधीय

---

*टिप्पणी—यह अध्याय उत्तर प्रदेश की हाइस्कूल परीक्षा के पाठ्यक्रम में नहीं है, अतः हाईस्कूल की छात्रायें इसे छोड़ सकती हैं।

नाड़ी मण्डल (peripheral nervous system), (२) केन्द्रीय नाड़ी

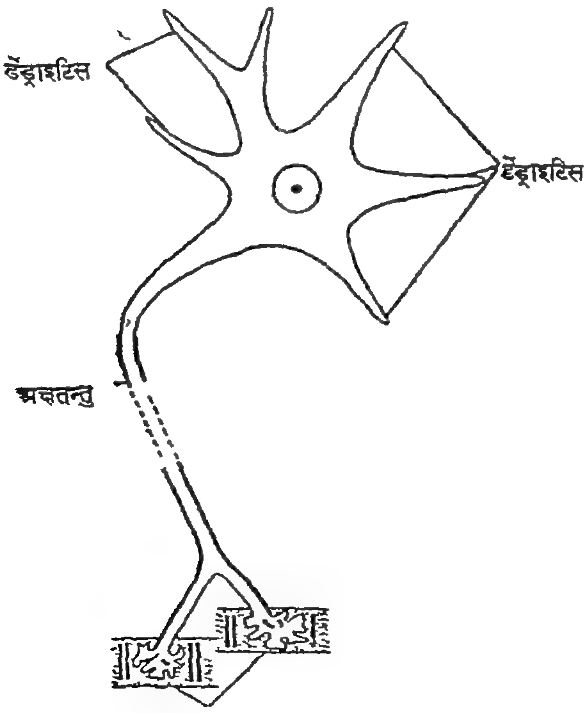


चित्र ३१—नाड़ियां

मंडल (central nervous sytem) तथा (३) स्वतन्त्र नाड़ी मंडल (autonomic or sympathetic nervous system)।

परिधीय नाड़ी मंडल

परिधीय नाडी मडल ज्ञानवाही और गतिवाही नाडियों से बना हुआ है। इन नाड़ियों का सम्बन्ध एक ओर तो शरीर की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों तथा मासपेशियों से और दूसरी ओर सुषुम्ना या मस्तिष्क से रहता है। अत. ज्ञानेन्द्रियाँ और मासपेशियों के अनुभव ज्ञानवाही नाड़ियाँ मस्तिष्क या सुषुम्ना तक पहुँचाती हैं और मस्तिष्क



चित्र ३२—एक नाड़ी सेल

और सुषुम्ना के आदेश ज्ञानेन्द्रियों तथा मांसपेशियों तक गतिवाही नाड़ियाँ पहुँचाती हैं।

नाड़ियों की बनावट—नाड़ियाँ नाड़ी-सेलो और नाड़ी-सूत्रों से मिलकर बनी हैं। नाड़ी-सेलें मस्तिष्क, सुषुम्ना और नाड़ियों के स्थान-स्थान पर फूले हुए भागों में रहती हैं। मुख्य नाड़ियाँ तथा उनकी शाखायें मुख्यत. नाड़ी-सूत्रों से ही बनी रहती हैं। वास्तव में नाड़ी-सूत्र नाड़ी-सेलों के भाग हैं जो नाड़ी-सेलों से ही निकल कर शरीर के सब अंगों में तार के समान फैले रहते हैं।

नाड़ी-सेल की बनावट—नाड़ी-सेलों के मध्य में एक प्रमुख केन्द्र होता है और उसमें से चारों ओर शाखायें निकलती हैं। इनमें से एक शाखा सबसे मोटी और लम्बी होती है तथा सेल की धुरी के स्थान पर मानी जाती है। यह अक्षतन्तु (axon) कहलाती है। वास्तव में यही स्नायु-सूत्र या नाड़ी-सूत्र है। शेष छोटी शाखायें विभाजित होकर बहुत सी महीन शाखाओं में बँट जाती हैं। छोटी-छोटी शाखाओं का यह समूह डेंड्राइटिस (dendritis) कहलाता है। मस्तिष्क और सुषुम्ना में एक सेल के अक्षतन्तु के सिरे दूसरे सेल के डेंड्राइटिस की शाखाओं से उलझे रहते हैं। इन स्थानों को, जहाँ ये दोनों उलझे रहते हैं, साइनाप्स (synapse) कहते हैं। हमारे अनुभव का धारा-प्रवाह नाड़ी-सूत्र से होता हुआ मस्तिष्क या सुषुम्ना में स्थित नाड़ी-सेल तक पहुँचता है। यहाँ ज्ञान-सेल से इस धारा को गति-सेल में पहुँचना होता है। अत ज्ञान-सेल के अक्षतन्तु से यह धारा बाहर प्रवाहित होकर गति-सेल के डेंड्राइटिस की ओर बढ़ती है। किस डेंड्राइटिस द्वारा इसे अन्दर प्रवेश करना है यह मस्तिष्क या सुषुम्ना निश्चित करता है। एक बार जिस डेंड्राइटिस से होकर यह धारा प्रवाहित होती है दुबारा उसी अनुभव के प्राप्त होने पर स्वभावतः पुराने मार्ग से प्रवाहित हो जाती है। प्रथम बार किसी कार्य को करने में देर क्यों लगती है और बाद में वह क्यों सरलतापूर्वक किया जा सकता है यह इससे स्पष्ट हो जाता है।

केन्द्रीय नाड़ी मंडल

तारों के समान समस्त शरीर में फैले हुए परिधीय नाड़ी मडल के नियन्त्रण का कार्य तारघर के समान केन्द्रीय नाडी मडल करता है। इस नाड़ी मडल के दो मुख्य अग हैं—मस्तिष्क और सुषुम्ना।

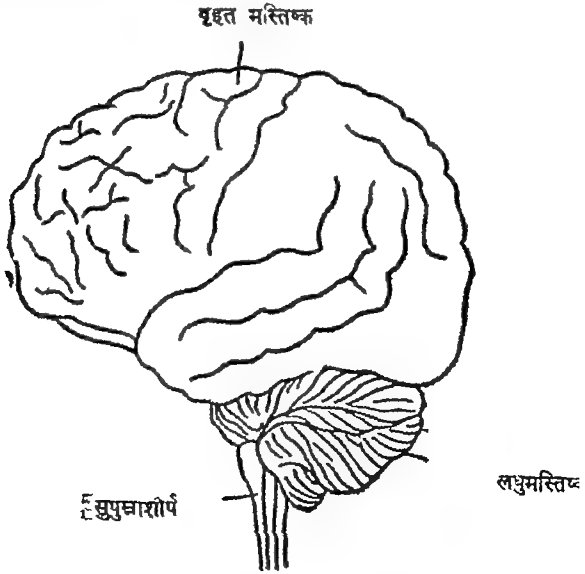
मस्तिष्क

मस्तिष्क की उपमा हम एक फैक्टरी के इजीनियर से दे सकते हैं। जिस प्रकार फैक्टरी के विभिन्न विभागों के कामो में सामञ्जस्यता स्थापित रखने के लिए एक इञ्जीनियर होता है उसी प्रकार हमारे शरीर के विभिन्न अगो के कार्यों में सामञ्जस्यता लाने के लिए मस्तिष्क है। हमारे सब कार्य मस्तिष्क द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। आँखों पर तीव्र प्रकाश पड़ते ही हम आँखें बन्द कर लेते हैं या उन्हें हाथ से ढक लेते हैं। प्रकाश अनुभव करने की क्रिया तथा उसके अनुसार आँखें बन्द करने या हाथ आँखों के सामने ले जाने की क्रिया किस शक्ति द्वारा सचालित होती है? हमारे शरीर मे मस्तिष्क की चेतन-शक्ति (मन) ही वह शक्ति है जो हमारी नाड़ियो द्वारा बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है और उन्हीं के अनुसार शरीर के विभिन्न अगों को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।

हमारा मस्तिष्क खोपड़ी की मजबूत हड्डियों से बने किले में, जो मस्तिष्क-घर (cranium) कहलाता है, सुरक्षित रहता है। लगभग १८ वर्ष की आयु में मस्तिष्क अपने पूर्ण विकास पर पहुँचता है। इस समय इसकी लम्बाई सामने से पीछे तक लगभग ६½ इन्च, चौड़ाई दाहिने से बाँये तक लगभग ५½ इन्च, तथा मोटाई ऊपर से नीचे तक लगभग ५ इंच होती है। इसका भार पुरुषों में लगभग २२ छटाँक और स्त्रियों में लगभग २० छटाँक होता है। मस्तिष्क दो झिल्लियों से मढ़ा हुआ है। बाहर की झिल्ली बाह्य आवरण (duramater) कहलाती है। यह कुछ कड़ी और मोटी होती है। अन्दर की पतली और कोमल झिल्ली अन्तावरण (piamater) कहलाती है। यह मस्तिष्क से इस प्रकार चिपटी रहती है कि इसका अलग करना कठिन

होता है। इसमें रक्त-केशिकाओं का जाल बिछा रहता है जिनसे मस्तिष्क को भोजन प्राप्त होता है। दोनों झिल्लियों के बीच में एक तरल पदार्थ रहता है जो बाहरी चोटों व धक्कों से मस्तिष्क की रक्षा करने में सहायक होता है।

मस्तिष्क का भीतरी भाग जो गूदे या मज्जा के समान होता है दो प्रकार के पदार्थों से बनता है। मध्य में श्वेत रंग का पदार्थ (white matter) होता है और उसके चारों ओर भूरे पदार्थ की पर्त (grey matter) रहती है। भूरे पदार्थ की सतह में खूब झुर्रियाँ सी पडी रहती हैं। जैसे जैसे हम मस्तिष्क से काम लेते हैं उसकी ऊपरी सतह पर गहरी रेखायें पड़ती रहती हैं। इन रेखाओं के स्थान पर मस्तिष्क कुछ नीचा हो जाता है और शेष भाग ऊँचा हो जाता है। इसी कारण समस्त सतह पर झुर्रियाँ मालूम पड़ती हैं। बुद्धिमान मनुष्य में ये रेखायें अधिक गहरी और संख्या में भी बहुत अधिक होती हैं।



चित्र २३—मनुष्य का मस्तिष्क

मस्तिष्क के मुख्य तीन भाग हैं—वृहत् मस्तिष्क (cerebrum), लघु मस्तिष्क (cerebellum) तथा सुषुम्ना शीर्ष (medulla oblongata) ।

वृहत् मस्तिष्क—मस्तिष्क का ऊपरी भाग वृहत् मस्तिष्क कहलाता है। यह समस्त मस्तिष्क का लगभग ½ भाग होता है। इसमें भूरा पदार्थ ऊपर और सफेद अन्दर रहता है।

वृहत् मस्तिष्क दरार के समान एक गहरी रेखा द्वारा दो बराबर भाग में बँटा रहता है। इस रेखा को सीता कहते हैं। ये भाग दायाँ गोलार्द्ध और बायाँ गोलार्द्ध कहलाते हैं।

ये दोनों गोलार्द्ध यदि अलग किए जायें तो इन्हें ऊपर से नीचे तक जोड़ती हुई एक श्वेत चीज मिलती है। इस श्वेत पर्त को महा संयोजक कहते हैं। दायाँ गोलार्द्ध शरीर के बायें भाग से और बायाँ गोलार्द्ध शरीर के दाये भाग से सम्बन्ध रखता है। ये दोनों गोलार्द्ध अनेक छोटे खडो में विभाजित रहते हैं। प्रत्येक खड शरीर के किसी एक अग विशेष से सबधित रहता है और उसके सब चेतन कार्यों को सचालित करता है तथा अपने नियत्रण मे रखता है, जैसे दृष्टि केन्द्र आँखों के कार्यों से सम्बन्ध रखता है। मस्तिष्क के खडों और शरीर के अगो का सम्बन्ध नाडियों द्वारा ही स्थापित रहता है। यदि वृहत् मस्तिष्क का कोई खड विशेष चोट या रोग के फलस्वरूप शिथिल पड जाता है तो यह अपने से सम्बन्धित अग से आने वाली ज्ञानवाही नाडियों की न तो सूचना प्राप्त कर सकता है और न वहाँ की गतिवाही नाडियों को आदेश ही दे सकता है। फलस्वरूप उस खड से सम्बन्धित अग भी कोई कार्य नहीं कर सकता।

वृहत् मस्तिष्क मस्तिष्क का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। चेतनशक्ति मस्तिष्क के इसी भाग में उत्पन्न होती है। अत हमारे सब चेतन कार्य इसी के द्वारा संचालित होते हैं। पिछली बातों को स्मरण रखने की शक्ति तथा हर एक वस्तु का पूर्ण ज्ञान भी इसी भाग में केन्द्रित रहता है। विभिन्न भाव, विचार और

उद्‌गार भी यहीं से उत्पन्न होते हैं। वृहत् मस्तिष्क मस्तिष्क के अन्य भागों के कार्यों पर भी नियन्त्रण रखता है। हम अपने प्रतिदिन के जीवन में तरह-तरह की चीजें देखते हैं और बातें सुनते हैं, और उनके अनुसार मन में तरह-तरह के कार्य करने की इच्छायें उत्पन्न होती हैं। किन्तु इन इच्छाओं पर नियन्त्रण रखकर वृहत् मस्तिष्क उन सब ही इच्छाओं को कार्य रूप में परिणत नहीं होने देता। वृहत् मस्तिष्क की यह नियन्त्रण शक्ति बहुत महत्व की है। इसके अभाव में हमें कोई भी बुरा से बुरा काम करने में हिचक नहीं होती। शराब या अन्य मादक चीजों के नशे की दशा में ऐसा ही होता है। उस समय वृहत मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है। इसी कारण शराबी मनुष्य में अपने कार्यों के अच्छे या बुरे प्रभाव को समझने की शक्ति नहीं रह जाती।

वृहत् मस्तिष्क में जब किसी प्रकार की चोट लग जाती है या किसी रोग के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है तब हमारी चेतन-शक्ति लुप्त हो जाती है। इसी अवस्था को अचेतनावस्था या मूर्छावस्था कहते हैं। ऐसी दशा में हमारे शरीर के अन्य अंग भी निर्जीव पड़ जाते हैं और कोई कार्य नहीं कर सकते।

वृहत् मस्तिष्क से निकलने वाली नाडियाँ—मस्तिष्क से १२ जोड़ी नाड़ियाँ निकलती हैं। इनमें गतिवाही और ज्ञानवाही दोनों ही प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं। ये नाक, आँख, कान, जीभ, जबड़ा आदि में जाती हैं और उनकी क्रियाओं के सञ्चालन का काम करती हैं।

लघु मस्तिष्क—लघु मस्तिष्क वृहत् मस्तिष्क के नीचे स्थित है और उससे तथा सुषुम्नाशीर्ष से जुड़ा हुआ है। लघुमस्तिष्क के भी दो भाग होते हैं—दायाँ और बायाँ। दायाँ भाग शरीर के दाहिने भाग से और बायाँ भाग शरीर के बायें भाग से सम्बन्ध रखता है। इसमें भी भूरा पदार्थ ऊपर और सफेद पदार्थ भीतर की ओर रहता है।

लघुमस्तिष्क हमारे शरीर की गतियों को सञ्चालित करता है और उनमें सामञ्जस्यता रखता है। चलना-फिरना, श्वास लेना आदि जितने भी ऐसे कार्य

हैं जिन पर चेतन रूप से ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उन पर लघु मस्तिष्क ही का नियन्त्रण रहता है। जब कभी कारणवश इन कार्यों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता पडती है तब बृहत् मस्तिष्क ही लघुमस्तिष्क की सहायता करता हैं। इसके अतिरिक्त शरीर का समतुलन (equilibrium) बनाये रखना भी लघुमस्तिष्क का ही काम है। दौड़ते समय यदि शरीर का एक भाग एक तरफ झुकता है तो तुरन्त लघु मस्तिष्क अपने प्रभाव से पुन शरीर मे समतुलन ला देता है और शरीर को गिरने से बचा लेता है। जब गति सम्बन्धी कोई आदेश बृहत् मस्तिष्क शरीर के किसी अग को देता है तो साथ ही लघु-मस्तिष्क को भी उसकी सूचना मिल जाती है और वह सतर्क होकर उस क्रिया के समय शरीर का समतुलन बनाये रखने को तैयार हो जाता है।

लघु मस्तिष्क में कुछ ऐसे नाडी-सूत्र होते हैं जिनके सिरे कान की अर्द्ध-चन्द्राकार नली के तरल द्रव्य में उतराते हैं। इनका शरीर के समतुलन से गहरा सम्बन्ध रहता है। जब इनमें किसी प्रकार की चोट पहुँचती है तब हमें चक्कर से आने लगते हैं और हम शरीर का समतुलन रखने में कठिनाई अनुभव करने लगते हैं। चोट अधिक होने से मूर्छा भी आ जाती है।

सुषुम्नाशीर्ष—यह वास्तव में सुषुम्ना का सबसे ऊपरी सिरा है। इसमें सफेद भाग ऊपर और भूरा भाग भीतर की ओर रहता है। यह सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा बृहत् व लघु मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा शरीर के अन्य अगों से सम्बन्धित है। इसी के द्वारा सुषुम्ना की सूचनायें मस्तिष्क तक पहुँचती हैं और मस्तिष्क की सुषुम्ना तक। यह शरीर के उन कार्यों में सामञ्जस्यता लाता है जो इच्छा-शक्ति के आधीन नहीं रहते। हृदय के सकोचन और विमोचन की क्रिया, श्वासो-च्छ्वास-क्रिया तथा पाचन-क्रिया आदि इच्छा शक्ति की परिधि के बाहर की क्रियायें हैं और सुषुम्नाशीर्ष द्वारा सचालित होती हैं। बृहत् मस्तिष्क इसके काम में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं करता। कभी-कभी विशेष आवश्यकता पड़ने पर यह अवश्य सुषुम्नाशीर्ष के कामों पर नियन्त्रण करता है। किसी दुर्गन्धयुक्त स्थान में साँस रोकने की क्रिया सुषुम्नाशीर्ष के आदेश से नहीं रुकती वरन् बृहत्

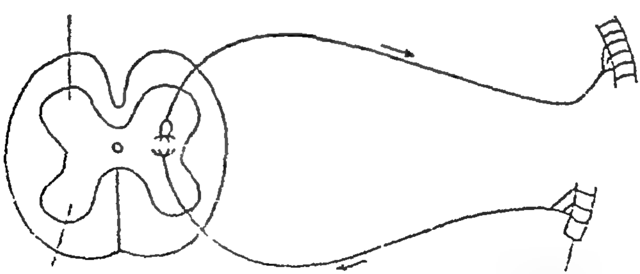
मस्तिष्क के आदेश से करती है। सुषुम्नाशीर्ष शरीर की भीतरी क्रियाओं को सञ्चालित तो करता है पर इसमें चेतन शक्ति नहीं है जो परिस्थितियों के अनुसार कार्य कर सके। अत ऐसी परिस्थितियों में बृहत मस्तिष्क आदेश देकर परिस्थिति के अनुसार कार्य करवाता है। शरीर के निरन्तर कार्य करने वाले मुख्य अङ्गों, हृदय और फेफड़े का सञ्चालन भी सुषुम्नाशीर्ष करता है। अत यह जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक अंग है। इसमें किसी भी प्रकार की चोट पहुँचने से मृत्यु हो जाती है।

सुषुम्ना

हम पढ़ चुके है कि रीढ़ की हड्डी की कशेरुकायें परस्पर इस प्रकार मिलती है कि इनके छेद एक दूसरे के ऊपर रहें और इस प्रकार ये सब छेद मिलकर एक नली बनाते है। सुषुम्ना रीढ़ की हड्डी की इसी नली के अन्दर सुरक्षित रूप से स्थित है। सुषुम्ना का आकार कुछ-कुछ बेलनाकार और रस्सी के समान होता है। यह भी मस्तिष्क की भाँति भूरे और श्वेत पदार्थ से बना है किंतु इसमें भूरा पदार्थ अन्दर और श्वेत पदार्थ बाहर की ओर रहता है। सुषुम्ना के अन्दर स्थित नाडी सेलों से ३१ जोड़ी नाड़ियाँ निकलती है। प्रत्येक नाडी की सुषुम्ना में दो जड़े होती है, एक वहाँ समाचार लानेवाली (ज्ञानवाही) और दूसरी वहाँ से समाचार ले जाने वाली (गतिवाही। सुषुम्ना से बाहर निकलने के बाद तुरन्त ही दोनों फिर मिल जाते है। देखने में यह एक नाडी हो जाती है लेकिन इसमें ज्ञानवाही तथा गतिवाही सूत्र बराबर अलग रहते है और अलग-अलग काम भी करते है। आगे बढ़ कर ये नाड़ियाँ विभाजित होती हुई समस्त शरीर में फैल कर एक जाल बिछा देती है सुषुम्ना से निकलने वाली ये नाड़ियाँ मस्तिष्क को छोड़ कर शरीर के शेष सब भागों पर नियन्त्रण रखती है। बृहत् मस्तिष्क यो सुषुम्ना को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देता है पर परिस्थिति के अनुसार सुषुम्ना के कार्यों को भी सञ्चालित करता है।

सुषुम्ना के कार्य—जब हमारी ज्ञानवाही नाड़ियाँ किसी बाह्य वस्तु के अनुभव का समाचार सुषुम्ना तक पहुँचाती है तब सुषुम्ना तुरन्त उस समाचार को बृहत्

मस्तिष्क के पास भेज देता है। मस्तिष्क गतिवाही नाड़ियों द्वारा अनुकूल आदेश हमारी इन्द्रियों तक भेजता है। किन्तु कुछ ऐसे भी आवश्यक काम आ पड़ते हैं जिनमें सुषुम्ना मस्तिष्क के आदेश की प्रतीक्षा न कर स्वयं ही गतिवाही नाड़ियों द्वारा अनुकूल आदेश दे देता है। जिस समय पैर में कॉटा चुभता है और उसका समाचार ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा सुषुम्ना को मिलता है वह तुरन्त गतिवाही नाड़ियों द्वारा पैर की मांसपेशियों तक अपना आदेश पहुँचाता है और हम अपना पैर हटा लेते हैं। इस आदेश को पैर के पास पहुँचाने के साथ सुषुम्ना मस्तिष्क तक भी कॉटा चुभने का समाचार भेज देता है। सुषुम्ना के आदेश से तो हम यन्त्रचालित की भाँति अपना पैर ही हटाते हैं और कुछ अनुभव नहीं करते, किन्तु मस्तिष्क में इसका समाचार पहुँचने पर हमें वास्तव में यह ज्ञान होता है कि हमारे पैर में कॉटा चुभा है और मस्तिष्क के आदेश से हम उसे निकालने के लिये हाथ बढ़ाते हैं। ये सब क्रियायें इतनी शीघ्रता से होती हैं कि हमें इनका कुछ आभास ही नहीं मिलता। कॉटा चुभते ही हम पैर हटाते और साथ ही उसे दूर करने का विचार करके हाथ बढ़ाते हैं। हम यह नहीं जान पाते कि पल भर के बीच में हमारे शरीर में क्या-क्या क्रियायें हुई हैं।



चित्र ३४—सहज क्रियायें

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ आवश्यक क्रियाओं में सुषुम्ना स्वयं भी आदेश दे देता है। इस प्रकार की क्रियाओं को ही सहज क्रिया या परावर्तित

कार्य (reflex action) करते हैं। प्रतिदिन एक सा काम करते करते कुछ ज्ञान नाड़ियों और गति-नाड़ियों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि उन ज्ञान नाडियों के उत्तेजित होते ही उनसे सम्बन्धित गति नाड़ियाँ अपने काम स्वयमेव करने लगती हैं। इस प्रकार की सहज क्रियायें ही हमारी आदतें बनाती हैं। छींकना, खाँसना, आँखों की पलक गिरना आदि सहज क्रियायें हैं। इन क्रियाओं की सूचना मस्तिष्क को पहले से नहीं रहती है और न मस्तिष्क इनका सचालन ही करता है। चलना, टहलना, बातें करते समय भी भोजन कर सकना सहज क्रियायें ही हैं। इनमें हमारे मस्तिष्क को ध्यान नहीं देना पड़ता। इस प्रकार हम देखते हैं कि दैनिक जीवन के बहुत से कामों को जिन्हें हम साधारणत आदतों में सम्मिलित करते हैं सुषुम्ना ही सचालित करता है। सहज क्रियाओं के अतिरिक्त सुषुम्ना शरीर के विभिन्न अगों और मस्तिष्क के बीच भी सम्बन्ध स्थापित करता है।

यदि सुषुम्ना से किसी अग तक जाने वाली नाड़ी कट जाय तो उस अग में न तो किसी चोट या पीड़ा का अनुभव होगा और न कोई गति ही होगी। लकवा लगना वास्तव में उस अग विशेष के स्नायु सूत्रों का नष्ट होना ही है। इसी कारण न तो उस अग में कोई अनुभव होता है और न कोई गति।

स्वतंत्र नाडी मडल

सुषुम्नाशीर्ष के निचले भाग से दो पतली-पतली कुछ-कुछ लाली लिए हुए भूरे रग की नाडियाँ निकलती हैं। ये दोनों नाड़ियाँ बहुत ही कोमल होती हैं और रीढ़ की हड्डी के सामानान्तर दोनों ओर एक-एक रहती हैं। ये दोनों नाड़ियाँ स्वतत्र नाडियाँ या पिंगल नाडियाँ (sympathetic nerves) कहलाती हैं। इनमें से अनेकों सूक्ष्म शाखायें निकल कर शरीर के सब भीतरी अङ्गों में जाती हैं और उनके कार्यों का नियत्रण करती हैं।

स्वतत्र नाड़ियों में स्थान स्थान पर फूले हुये गोल स्थान हैं। इन गोल थानों को गड (ganglion) कहते हैं। शरीर के सब अनैच्छिक कार्य करने

वाले अङ्गो से मस्तिष्क या सुषुम्ना की जो नाड़ियाँ सम्बन्धित हैं वे इन स्वतंत्र नाड़ियों के गडों से होकर ही जाती हैं। अत. मस्तिष्क का इन अनैच्छिक कार्य करने वाले अङ्गों (हृदय, फेफड़े, यकृत आदि) पर नियंत्रण इन्हीं के द्वारा होता है। हृदय में रक्त की गति का होना तथा भोजन का पचना आदि कब और कैसे होता है, यह हमें ज्ञात भी नहीं हो पाता। अतः शरीर का स्वास्थ्य, शरीर की वृद्धि तथा अत· क्षोभों (immotions) का उद्वेग आदि भी इसी नाडी मडल पर बहुत अंशों में आश्रित हैं।

प्रश्न

(१) नाडो स स्थान से तुम क्या समझते हो ? हमारे शरीर में इसकी क्या उपयोगिता है ?

(२) नाड़ी मंडल के कितने विभाग हैं ? प्रत्येक का कार्यक्षेत्र बतलाइये ?

(३) मस्तिष्क की बनावट विस्तार मे बतलाइये। प्रत्येक भाग के कार्यों का भी उल्लेख कीजिये।

(४) सुषुम्ना और उसकी नाड़ियों का वर्णन कीजिये।

(५) 'नाडो म स्थान के खराब होने से मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।' क्यों ?

(६) मस्तिष्क की बनावट क्या है ? स्नायु-तंतुओं के विशेष भेद क्या हैं ? उनका वर्णन कीजिये। (हाई स्कूल परीक्षा, १९४९)

आठवाँ अध्याय

हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ*

नाड़ी संस्थान के वर्णन में हम पढ़ चुके हैं कि किसी भी अनुभव का ज्ञान हमें तभी होता है जब हमारी नाड़ियाँ उस अनुभव का समाचार हमारे मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। इसी को संवेदना या चेतना भी कहते हैं। किसी बाह्य अनुभव का ज्ञान हमारी नाड़ियाँ किसी अंग या इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त करती हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं के अनुभव को प्राप्त करके उनका समाचार नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाने का कार्य जो अंग करते हैं उन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—दृश्येन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय।

दृश्येन्द्रिय

हमारी दृश्येन्द्रिय हमारी आँखें हैं। आँखों के बिना हम कोई चीज देख नहीं सकते। देख न सकने पर कोई भी काम कर सकना या किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकना संभव नहीं होता। इसीसे आँखों का महत्व सबसे अधिक माना जाता है।

हम अपनी आँख की तुलना चित्र खींचने के कैमरे से कर सकते हैं। दोनों की रचना और दोनों के कार्यों में बहुत समानता है।

कैमरा वास्तव में एक छोटी सी अँधेरी कोठरी के समान होता है। इसमें एक ओर एक छोटा सा गोल छिद्र होता है जिसमें ताल लगा रहता है। ताल के सामने की दूसरी दीवार पर अन्दर की ओर चित्र अंकित होने के लिए एक विशेष मसाला लगी काँच की प्लेट लगी रहती है। जिस वस्तु का चित्र खींचना होता है उसकी स्थिति और दूरी कैमरे के ताल से इतनी रखी जाती है कि उसका प्रकाश ताल से होता हुआ अन्दर की प्लेट पर पड़े। आँख की रचना भी ठीक ऐसी ही

*यह अध्याय भी उत्तर प्रदेश की हाईस्कूल परीक्षा के पाठ्यक्रम में अब नहीं है।

है। आँख की बन्द अँधेरी कोठरी कैमरे की भाँति चौकोर न होकर गोल होती है। इसमें भी सामने की ओर एक पारदर्शक ताल लगा रहता है जिसमें से होकर प्रकाश की किरणें अन्दर ठीक सामने की दीवार पर पड़ती हैं। इस स्थान पर कैमरे की प्लेट की भाँति एक सावेदनिक झिल्ली लगी रहती है और इसी पर वस्तुओं का प्रतिबिंब पड़ता है। इस प्रतिबिंब का ज्ञान यहाँ पर स्थित दृष्टि-नाड़ियाँ मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं और तब हम उस वस्तु विशेष को पहचानते हैं।

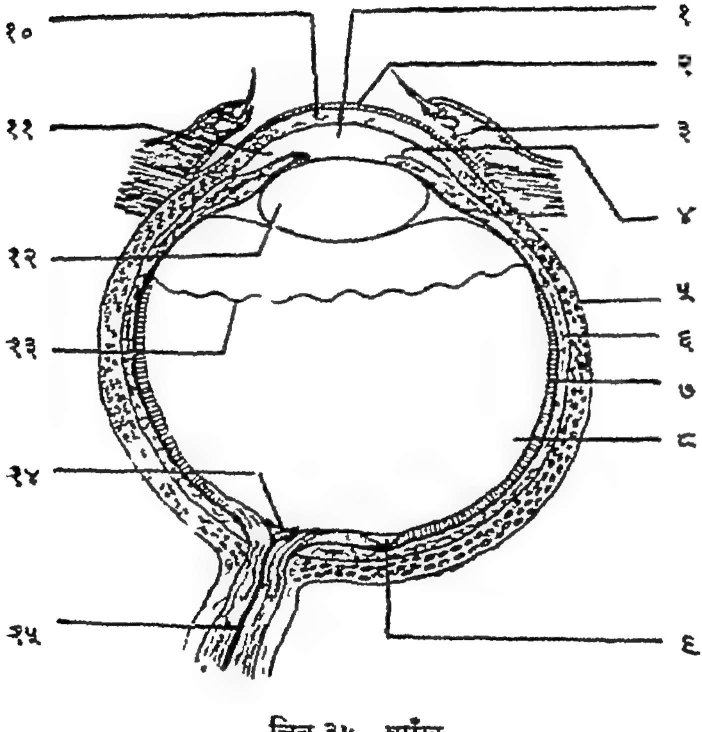
बनावट--हमारी आँखों के लिए चेहरे की हड्डी में एक-एक छिद्र नाक के दोनों ओर ललाट के नीचे रहता है। आँखें इन्हीं छिद्रों के भीतर स्थित रहती हैं। इन्हें इनकी जगह पर दृढ़ता से स्थित रखने के लिए प्रत्येक आँख में छः छोटी-छोटी मासपेशियाँ होती हैं—दो ऊपर, दो नीचे और एक एक आँख के दोनों ओर। ये मासपेशियाँ लचीली (flexible) होती हैं। इसीसे हम आँखों को इधर-उधर घुमा कर सब ओर की चीजें देख सकते हैं। यदि ये मासपेशियाँ लचीली न होतीं तो हम आँखों को इधर-उधर घुमा फिरा न सकते और केवल आमने-सामने की ही चीजें देख पाते।

आँख गोलाकार है किन्तु इसका आगे का कुछ भाग, जिसे हम देखते हैं, कुछ उभरा हुआ रहता है। यह **डेला या कनीनिका** (cornea) कहलाता है। डेला एक मोटी पारदर्शक झिल्ली है। डेले के ऊपर एक बहुत पतली झिल्ली और होती है जिसे **नेत्ररक्षक झिल्ली** (conjunctiva) कहते हैं।

आँख के गोले की दीवार के तीन पर्त होते हैं—**श्वेतपटल** (sclerotic), **मध्यपटल** (choroid) तथा **अन्तरीयपटल** (retina)। श्वेतपटल सबसे ऊपरी पर्त है। डेला इसका ही उभरा हुआ अग्र भाग है। यह पर्त सफेद, कड़ी और ठोस होती है तथा सौत्रिक तन्तुओं से बनी होती है, किन्तु इसका डेले वाला भाग पारदर्शक होता है। यह कड़ी पर्त आँख की रक्षा का कार्य करती है। आँख की मासपेशियाँ भी इसी पर्त से जुड़ी रहती हैं।

श्वेतपटल के बाद अन्दर की दूसरी पर्त मध्यपटल है। यह भी सौत्रिक तन्तु से बनती है और इसकी सेलों में काले रग का द्रव्य भरा होने के कारण यह पूरी

पर्त ही काली दिखलाई देती है। इस पर्त में रक्त-केशिकाओं का जाल बिछा रहता है और इसीसे यह पर्त आँख के पोषण का काम करती है। ढेले के पास पहुँचने पर इस पर्त के दोनों सिरे पतले सूत्र के आकार के बन जाते हैं। यह उपतारा (Iris) कहलाते हैं। उपतारा सिकुड़ और फैल सकते हैं। दोनों ओर



चित्र ३५—आँख

(१) तारा, (२) नेत्रावरण झिल्ली, (३) पलक, (४) उपतारा, (५) बाह्यपटल, (६) मध्यपटल, (७) अन्तरीयपटल, (८) जेलीकोष, (९) पीतबिन्दु, (१०) कनीनिका, (११) जलीय कोष, (१२) ताल, (१३) सिलिया, (१४) अंधबिन्दु, (१५) दृष्टिनाड़ी

के उपतारा आपस में जुड़े नहीं रहते। इन्हीं के बीच एक गोल रिक्त स्थान रहता है जो काला सा दिखलाई देता है। यह गोल छेद तारा या पुतली (pupil) कहलाता है। तारा के कुछ पीछे अन्दर की ओर आँख का पारदर्शक ताल (lens) रहता है। यह ताल उन्नतोदर (convex) होता है और दोनों ओर उपतारा से बन्धक तन्तुओं द्वारा सम्बधित रहता है। ताल के ऊपर एक पतली पारदर्शक झिल्ली रहती है जो ताल कोष (lens capsule) कहलाती है।

आँख की तीसरी व सबसे भीतरी पर्त अन्तरीयपटल कहलाती है। यह बहुत ही कोमल होती है और नाडी-सूत्रों तथा विशेष प्रकार की सेलों से बनती है। इसका डेले के पास वाला भाग पतला और सावेदनिक सेलों रहित होता है। पिछला भाग मोटा तथा सावेदनिक सेलों से युक्त होता है और ठीक वही काम करता है जो कैमरे में लगी प्लेट करती है। आँख की पुतली के ठीक सीध में इस पर्त पर एक गोल रंग का धब्बा होता है। यह पीतबिन्दु (yellow spot) कहलाता है। पीतबिन्दु अन्तरीयपटल का सबसे सावेदनिक स्थान है। जब किसी वस्तु की छाया इस स्थान पर पड़ती है तो वह हमें अधिक स्पष्ट दिखलाई देती है। पीतबिन्दु से थोड़ा हटकर (नाक की ओर) एक दूसरा स्थान है जो अंधबिन्दु (blind spot) कहलाता है। हमारे अन्तरीयपटल के समस्त नाड़ी-सूत्र यहाँ आकर एकत्र होते हैं और एक बडी नाडी बनाते हैं। यह नाड़ी दृष्टिनाड़ी कहलाती है। अंधबिन्दु से होती हुई दृष्टिनाड़ी बृहत् मस्तिष्क के दृष्टिकेन्द्र तक जाती है। अंधबिन्दु पर कोई संवेदना नहीं होती अतः यहाँ बाहरी पदार्थ का कोई चित्र नहीं बनता। इसीलिये इसका नाम अंधबिन्दु पड़ा है।

ताल के पीछे से अन्तरीयपटल तक का सारा स्थान जेलीकोष कहलाता है। इसमें एक स्वच्छ रंग का गाढ़ा पारदर्शक तरल भरा रहता है। यह जेलीरस (vitrous humour) कहलाता है। डेले और ताल के बीच के रिक्त स्थान में पानी के समान एक पतला तरल भरा रहता है। यह जलरस (aqueous humour) कहलाता है और इस स्थान को जलकोष (aqueous chamber) कहते हैं।

पलक—आँख की भीतरी बनावट जानने से पता लगता है कि यह कितना कोमल अंग है। इस कोमल अंग की रक्षा के लिये प्रकृति ने स्वयं ही प्रबन्ध कर दिया है। हमारी पलकें आँखों के लिये कपाटों का काम करती हैं। थोड़ा भी तीव्र प्रकाश हो, कोई हमारी आँख की ओर हाथ या अन्य कोई चीज बढ़ाये, हम स्वयं ही किसी उद्देश्य से हाथ आँखों की ओर ले जाय या नेत्र दुखा रहती हों, तो पलकें झट से स्वयं बन्द होकर हमारी आँखों की रक्षा करती हैं। पलकों के किनारों पर छोटे छोटे बाल होते हैं जो पक्ष्म (eye lashes) कहलाते हैं। पलक सौत्रिक तन्तुओं से बनी हैं। इनकी ऊपरी सतह पर त्वचा की पर्त और अन्दर की ओर श्लैष्मिक झिल्ली की पर्त रहती है। श्लैष्मिक झिल्ली की पर्त में रक्त-केशिकाओं का जाल बिछा रहता है और इसी कारण उसका रंग भी लाल दिखलाई पड़ता है।

आँखों की पलकों के किनारों पर बालों की जड़ों से सटी हुई छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं। इनमें से एक चिकना द्रव्य सदा निकलता रहता है। यह पलकों को चिकना रखता है। किसी ग्रन्थि का प्रवाह किसी कारणवश रुक जाता है तो वह फूल जाती है। इसी को अंजनहारी कहते हैं।

अश्रु ग्रन्थि—ऊपर की पलक में कनपटी की ओर एक अश्रुग्रन्थि होती है। इसमें नमकीन पानी के समान रस निकलता है। इस ग्रन्थि से १२ छोटी-छोटी नलिकायें निकलकर पलक की भीतरी सतह तक पहुँचती हैं। इन्हीं से होकर यह रस जो अश्रु (आँसू) कहलाता है, आँख की पलक की सतह पर आता रहता है। साधारणतः यह केवल इतनी ही मात्रा में निकलता है कि ढेले तथा पलकों को तर रख सके। जिस समय किसी दुःख या पीड़ा से व्यथित होकर हम रोते हैं उस समय भावोद्वेग के कारण इसका प्रवाह बढ़ जाता है और आँसू हमारे नेत्रों से बाहर टपकने लगते हैं। नाक की ओर वाले भाग में जहाँ दोनों पलकें परस्पर मिलती हैं एक छिद्र होता है। इसमें से होकर ही तीव्र प्रवाह के समय कुछ आँसू नाक में भी पहुँच जाते हैं।

हम कैसे देखते हैं ?—जब किसी वस्तु की ओर हमारी आँख जाती है तो उसके प्रकाश की किरणे पुतली से होकर जलरस, ताल व जेलीरस से होती हुई अन्तरीयपटल के पीतविन्दु पर पड़ती हैं। उस समय इस छाया के अनुभव को दृष्टिनाडी मस्तिष्क के दृष्टि केन्द्र तक ले जाती है। मस्तिष्क की सहायता से हम उस वस्तु के रूप, रंग, व आकार को देख व पहचान पाते हैं। १५ फीट की दूरी तक की चीजे देखने मे साधारणत स्वस्थ नेत्रों को कठिनाई नहीं होती। इससे दूर की या बहुत ही समीप की वस्तुये देखने के लिये हमारे ताल को परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाना पडता है। ताल के समीप लगी हुई पेशियों के सिकुडने या फैलने से ही यह काम होता है।

आँखों के कुछ रोग

नेत्रों के कुछ दोष तो जन्मजात होते हैं और कुछ अर्जित। जन्मजात दोष साधारणत ठीक नहीं हो सकते, किन्तु अर्जित दोषों का सावधानी से उपचार करने पर वे ठीक हो जाते हैं। कुछ दोष शिशु अवस्था में आँखों का उपयुक्त व्यवहार न करने से उत्पन्न हो जाते हैं। यदि माता-पिता तथा अध्यापक सतर्क रहें तो ऐसे दोषों को उत्पन्न होने से रोक सकते हैं।

वर्ण अन्धता

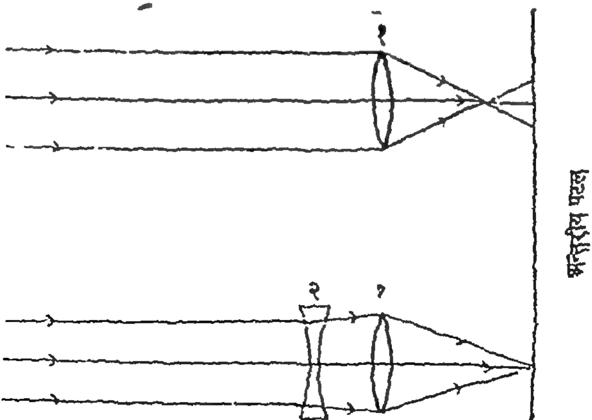
इस दोष के होने पर बालक विभिन्न रंगों में अन्तर नहीं जान सकता। यह दोष जन्मजात होता है और ठीक नहीं हो सकता।

निकट दृष्टि का रोग (short sightedness)

इस दोष में लोगों को समीप की चीजें तो स्पष्ट दिखलाई पडती हैं किन्तु दूर की चीजें ठीक नहीं दिखलाई पड़तीं। यह दोष जन्मजात भी होता है और अर्जित भी। इसमें आँख का गोला कुछ अधिक लम्बा हो जाता है जिससे ताल और पीतबिन्दु के बीच की दूरी स्वस्थ आँख की अपेक्षा अधिक हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि किसी बाहरी वस्तु के प्रकाश की किरणें जब आँख पर

पड़ती है तो पीतबिन्दु पर केन्द्रित न होकर अन्तरीयपटल के पहले ही जेलीकोष के बीच में केन्द्रित हो जाती है। इससे उस वस्तु का चित्र स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता और केवल उसकी धुंधली छाया दिखलाई पड़ती है जिससे हमारे नेत्रों को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। फलस्वरूप हम उस वस्तु को अत्यन्त समीप से देखने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार हमारी आँखों की मांसपेशियों को सदा परिश्रम करते रहना पड़ता है और धीरे-धीरे यह रोग भी अधिक बढ़ जाता है।

कारण—पुस्तक आँख के बहुत पास रख कर पढ़ने या इसी प्रकार रख कर अन्य कोई कार्य—सीना, बुनना आदि—करने से, पर्दे के बहुत समीप बैठकर तथा अधिक सिनेमा देखने से, बीमारी के बाद ही आँखों से अधिक परिश्रम लेने से, धीमे प्रकाश में पढ़ने आदि से यह दोष आँखों में उत्पन्न होता है। अत माता पिता और अध्यापक को बच्चों के काम करने के ढङ्ग को भी देखना चाहिये जिससे उन्हें इस कष्ट से बचाया जा सके।



चित्र २६—निकटदृष्टि का रोग और चश्मा

(१) आँख का ताल, (२) चश्मे का नतोदर ताल

लक्षण—पुस्तक को पास रख कर पढ़ने की चेष्टा, सिर दर्द, ध्यान न लगना, आँखों से पानी गिरना, दूर की चीजें अस्पष्ट दीखने का उलाहना करना, पुतली का बड़ा दीखना आदि इस रोग के स्पष्ट लक्षण हैं। इन लक्षणों को देखते ही खूब ध्यान से रोग का उपचार करना चाहिये नहीं तो यह दोष बढ़कर नेत्रों को बिल्कुल अन्धा ही कर देता है।

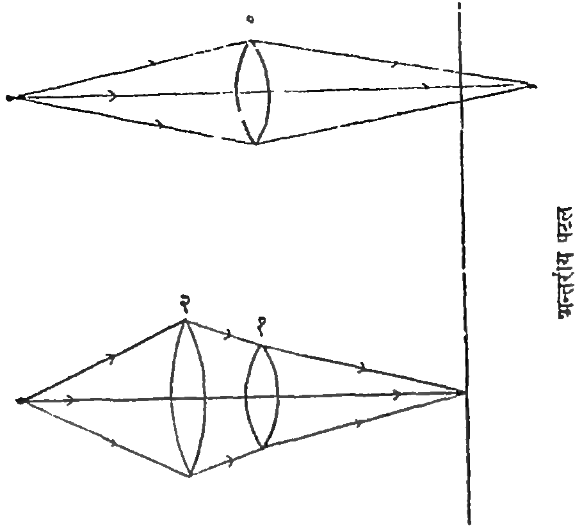
उपचार—आँखों के इस दोष का उचित उपाय नतोदर (concave) तालों वाला चश्मा लगाना है। इन नतोदर तालों पर उस वस्तु की किरणें जब पड़ती हैं तो ये उन्हें दूर छितरा देते हैं। आँख का उन्नतोदर ताल जब इन छितरी हुई किरणों को समेटता है तो ये पहले की अपेक्षा अधिक दूर पर केन्द्रित होती हैं। इस प्रकार पहले जेलीकोष तक ही रह जाने वाली किरणें अब पीतबिन्दु तक पहुँच जाती हैं। इस प्रकार चश्मा लगा लेने से केवल दूर की चीजें ही दिखलाई नहीं पड़तीं वरन् यह दोष और अधिक बढ़ भी नहीं पाता (चित्र ३६)।

दूर दृष्टि का रोग (long sightedness)

इस दोष के होने पर दूर की चीजें तो ठीक दिखलाई पड़ती हैं किन्तु समीप वाली स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़तीं। इस दोष में आँख का गोला कुछ कम लम्बा हो जाता है अर्थात् उसके ताल और पीतबिन्दु के बीच की दूरी स्वस्थ आँख की अपेक्षा कम हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहिरी वस्तु के प्रकाश की किरणें अन्तरीयपटल पर न पड़कर उसके पीछे पड़ती हैं और वह वस्तु हमें अस्पष्ट दिखलाई पड़ती है। अति समीप की चीजें देख सकना ऐसे लोगों के लिये अत्यन्त कठिन होता है। अतः इस दोष के होने पर आँखों को अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

लक्षण—छोटी आँखें व छोटी पुतली, किताब दूर से पढ़ने की चेष्टा आदि इसके लक्षण हैं।

उपचार—उन्नतोदर तालों वाला चश्मा लगाने से इस रोग को बढ़ने से रोका जा सकता है तथा सब चीजें भी स्पष्ट देखी जा सकती हैं। चश्मे के उन्नतो-



चित्र ३७—दूर दृष्टि का रोग और चश्मा

(१) आँख का ताल, (२) चश्मे का उन्नतोदर ताल

दर ताल प्रकाश की किरणों को समेटते हैं। कुछ सिमटी हुई ये किरणें जब आँख के ताल पर पड़ती हैं और वह उन्हें केन्द्रित करता है तो वे अन्तरीयपटल पर ही पड़ती हैं। इस प्रकार वस्तुयें स्पष्ट दिखलाई देती हैं और हमारे नेत्रों को कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता (चित्र ३७)।

असमान दृष्टि का रोग

इस दोष में चीजें धुँधली और असमान दिखलाई पड़ती हैं। आँखों की बनावट में अन्तर होने से यह दोष उत्पन्न होता है। पूर्ण आँख की अथवा विशेष रूप से डेले की सतह इस दोष में असमान हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप प्रकाश की सब किरणें एक ही स्थान पर केन्द्रित नहीं

हो पाती। इसका उपचार भी उपयुक्त चश्मा लगाने से ही हो सकता है। चश्मे के ताल की सतह भी असमान होनी चाहिये जिससे उसकी तथा डेले की असमान सतहें मिलकर एक समान सतह बना सकें। ऐसा होने पर हमें चीजें स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगेंगी।

आँखों का तिरछा होना (टिपरापन, squint)

यह दोष दो कारणों से उत्पन्न होता है:—(१) यदि बालक की दोनों आँखों की दृष्टि में अन्तर होता है तो उसे प्रत्येक वस्तु देखने के लिये आँखों को इधर-उधर घुमा कर और बड़े परिश्रम से देखना पड़ता है। लगातार परिश्रम के कारण आँख की कोई पेशी खिंच जाती है तो कोई सिकुड़ जाती है। (२) यदि आँख की पेशियों में ही कोई दोष हो जाय तो उसके कारण आँख को इच्छानुसार घुमा फिरा सकना सम्भव नहीं होता और बालक टेढ़ी आँखों से ही देखने लगता है।

यह दोष तीन साल की आयु में उत्पन्न होता अधिक पाया गया है। छोटे बच्चों की आँखों पर यदि लगातार बाल लटकते रहें तो भी वह इधर-उधर तिरछी निगाह से ही देखने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में भी यह दोष उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी आँख के कुछ अन्दर की ओर झुके रहने से भी यह दोष उत्पन्न हो जाता है।

उपचार—चीर-फाड़ द्वारा प्रायः यह दोष ठीक हो जाता है। चीर-फाड़ से सिकुड़ी हुई पेशी को बढ़ाया तथा खिंची हुई पेशी को काट कर छोटा किया जाता है। आरम्भ में बहुत थोड़ा सा दोष होने पर उपयुक्त चश्मे द्वारा भी लाभ हो सकता है।

आँख दुखना या आँख उठना (sore eyes)

यह छूत से लगने वाला रोग है और गन्दगी के कारण फैलता है। गंदे कपड़े से मुँह पोंछने से आँखों में गन्दगी पहुँचती है। पलकें सूज जाती हैं और आँख से सफेद रंग का एक गाढ़ा पदार्थ, जिसे कीचड़ कहते हैं, निकलने लगता

है। रोग बढ़ने पर डेला भी लाल पड़ जाता है। पलकें सूज कर ऐसी मोटी व भारी हो जाती हैं कि उनका खुलना कठिन हो जाता है।

उपचार—साधारणत सोडा बाइकारबोनेट (sodium bicarbonate) से धोने तथा कोई प्रतिपूय (antiseptic) मलहम लगाने से यह दो चार दिन में ठीक हो जाता है। किन्तु यदि लापरवाही से रोग बढ़ जाता है तो फिर विशेष डाक्टरी उपचार की आवश्यकता पड़ती है और ठीक होने में समय भी बहुत लगता है। आँख उठने का आभास पाते ही तुरन्त ही उपचार करना चाहिये नहीं तो यह रोग बढ़ कर आँखों को खराब कर देता है। इससे कभी-कभी दृष्टि तक समाप्त होती देखी गई है।

आँखों के दोषों से बचने के लिये यह आवश्यक है कि आँखों से उचित ढङ्ग से काम लिया जाय। गलत विधि से या कम प्रकाश बैठ कर पढ़ना, छोटे-छोटे अक्षर लिखने या पढ़ने की चेष्टा करना, बहुत अधिक बुनाई-सिलाई का काम करना आदि आँखों के लिये बहुत ही हानिकर हैं। अत माता-पिता व अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वे आरम्भ से ही इस बात का ध्यान रखें कि बालक बालिकायें इस प्रकार की हानिकर आदतें न सीखने पायें। साथ ही प्रतिदिन आँखों को धोने और साफ रखने की आदत भी बच्चों में आरम्भ से ही डालनी चाहिए। एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ने लिखने अथवा सिलाई आदि का काम करते समय प्रकाश सदैव बायीं ओर से या पीछे से आना चाहिए। दाहिनी ओर से प्रकाश आने में हाथ की छाया पड़ने से प्रकाश ठीक नहीं आता। सामने की ओर से आने पर प्रकाश अधिक भी रहता है और साथ ही सीधे आँखों पर पड़कर हानि भी पहुँचाता है।

आँख की अनुकूलन शक्ति (accomodation of the eye)—हमारी आँखों में दूर या पास की चीजों को देखने के अनुकूल बनने की शक्ति होती है। पास की चीजों की प्रकाश किरणें आँख के ताल पर पड़ कर इतनी नहीं सिमट सकतीं कि अन्तरीयपटल पर ठीक-ठीक पड़ सकें। अत दोनों उपतारा

सिकुड़ते हैं जिससे ताल पर का दबाव कम हो जाता है और वह बीच में अधिक मोटा हो जाता है। इस प्रकार ताल के अधिक उन्नतोदर हो जाने से प्रकाश की किरणें सिमट कर ठीक स्थान पर पड़ जाती हैं और हम पास की चीजों को भी स्पष्ट देख सकते हैं। इसी प्रकार तेज प्रकाश मे उपतारा की मासपेशियाँ तारा को सिकोड़ कर छोटा कर देती हैं और धीमे प्रकाश में फैला देती हैं जिससे आवश्यकतानुसार ही प्रकाश आँख के अन्दर जा सके और हम पदार्थों को ठीक से देख सकें। आँखों की इस शक्ति को अनुकूलन शक्ति कहते हैं।

श्रवणेन्द्रिय

जीवन में आँखों के बाद कानों का ही महत्त्व है। हम देखकर ही सब चीजों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, किन्तु कुछ चीजें ऐसी हैं जिनका शब्द बिना सुने हम उनका पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। बालक अनुकरण द्वारा ही बोलना सीखते हैं। बोलने वाले के मुख की गति को देखकर वे उसका अनुकरण करते हैं पर साथ ही अपने कानों से सुने शब्द का भी अनुकरण करते हैं। यदि कानों में किसी प्रकार का दोष हो तो बालक दूसरों के शब्दों को नहीं सुन सकता। ऐसी अवस्था में वह दूसरों के मुख की गति का अनुकरण चाहे कर ले पर शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकेगा। यही कारण है कि अधिकतर बहरे लोग गूँगे भी होते हैं। कुछ लोगों के कान एकदम बहरे तो नहीं होते पर उन्हें स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ता या बहुत जोर की आवाज ही सुनाई पड़ती है।

बनावट—हमारा कान तीन मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—बाह्य कान, मध्य कान, अंतस्थ या भीतरी कान।

बाह्य कान—यह कान का वह भाग है जिसे हम बाहर से देखते हैं। यह कार्टिलेज से बना है, किन्तु इसके नीचे के भाग में, जो कुछ मोटा और मुलायम होता है, कार्टिलेज नहीं होता। वह सौत्रिक तन्तुओं से बना होता है। ऊपर से हम कान का जो छिद्र देखते हैं वह कर्णनली का बाहरी मुख है। कर्णनली लगभग १½ इञ्च लम्बी एक छोटी सी नली है जो खोपड़ी की हड्डियों के बीच स्थित है। इसके चारों ओर की त्वचा में छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं जिनमें से मोम

का सा पदार्थ निकलता रहता है। यह कान की रक्षा का प्राकृतिक उपाय है। कोई कीड़ा-पतिंगा यदि कान की इस नली में घुस जाता है तो इसी मोम में चिपक कर रुक जाता है, अन्दर घुस कर कान के कोमल भीतरी भागों को क्षति नहीं पहुँचा पाता। इसके अतिरिक्त यह मोम नली की त्वचा को चिकनी और गीली भी रखता है। समय-समय पर बड़ी सावधानी से इसे निकालते रहना चाहिये, अन्यथा बहुत अधिक मात्रा में एकत्र होकर यह हमारे सुनने में बाधा डालता है।

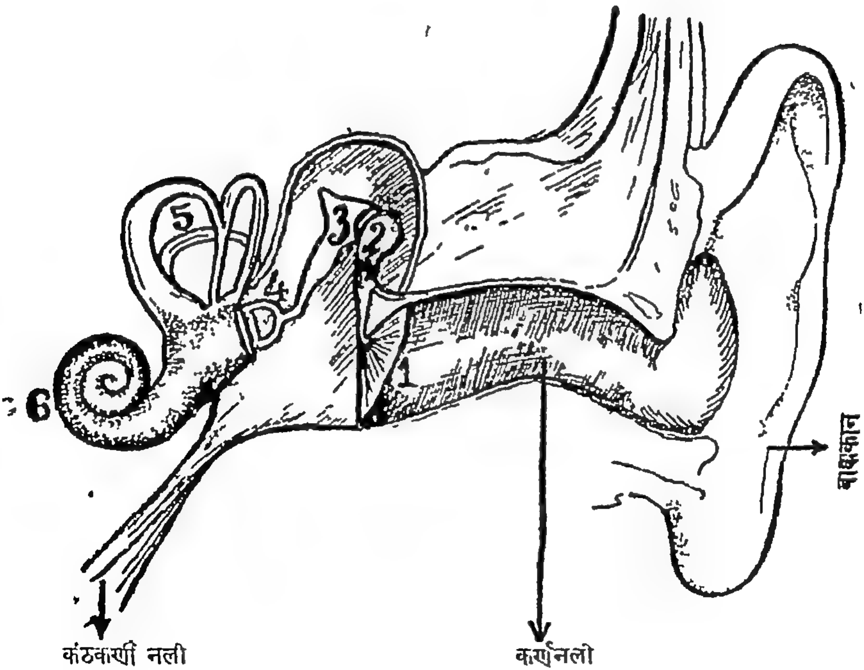
मध्यकान—बाह्यकान की समाप्ति पर खोपड़ी की हड्डियों के बीच में ही मध्यकान स्थित है। बाह्य व मध्यकान को अलग करने वाला इनके बीच में एक पर्दा रहता है। यह कर्णपटल (ear drum) कहलाता है। यह पर्दा कोमल झिल्ली का बना होता है और इसमें ऐसा कोई छिद्र या मार्ग नहीं होता जिससे बाह्य व मध्यकान में कोई सम्बन्ध स्थापित हो सके। पर्दे के पीछे की ओर तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं। सबसे पहली हड्डी मुग्दर (hammer) कहलाती है। इसका आकार हथौड़े के सदृश होता है। दूसरी हड्डी नेहाई (anvil) कहलाती है और इसका एक भाग मोटा तथा दूसरा पतला होता है। तीसरी हड्डी रकाब के आकार की होने से रकाब (stirrup) कहलाती है। ये तीनों हड्डियाँ बंधक तन्तुओं द्वारा क्रम से परस्पर एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं। चित्र ३८ से यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। मध्यकर्ण के नीचे की ओर से कंठ तक भी एक नली जाती है। यह कंठकर्णीनली (eustachian tube) कहलाती है। मध्य-कान के दूसरे सिरे पर भी एक पतली झिल्ली रहती है जो भीतरी पर्दा (inner drum) कहलाती है।

अंतस्थ कर्ण—मध्य कर्ण के बाद अंतस्थ कर्ण स्थित है। इसके भी तीन भाग होते हैं—(१) तीन अर्द्धचन्द्राकार नलियाँ (semi-circular canals), (२) जौ के आकार की एक नन्हीं सी बन्द कोठरी जो कर्णकुटी (vestibule) कहलाती है, तथा (३) कोकला (cochlea)।

मध्यकान की भीतरी झिल्ली से कुछ हट कर कर्णकुटी स्थित है। मध्यकर्ण की ओर के कर्णकुटी के भाग से तीन नलियाँ निकली हैं जो थोड़ा सा घुमाव

देकर फिर उसमें ही मिल जाती हैं। इस प्रकार ये अर्द्धचन्द्र का सा आकार बनाती हैं और इसी से इसका नाम अर्द्धचन्द्राकार नलियाँ पड़ा है। इन नलियों में उन नाड़ियों के सिरे मिलते हैं जो लघुमस्तिष्क से आती हैं। इनका सम्बन्ध शरीर के समतुलन से है।

कर्णकुटी के पिछले सिरे के छिद्र से एक और नली निकलती है जो घोंघे की भाँति खूब मुड़ी हुई रहती है। यही कोकला है। इसमें श्रवण-नाड़ी के सिरे रहते हैं। यही नाड़ी हमारे सुने हुए शब्दों को वृहत् मस्तिष्क के श्रवण-केन्द्र तक पहुँचाती है।



चित्र ३८—कान

(१) कर्णपटल, (२) मुग्दर, (३) नेहाई, (४) रकाब, (५) अ
(६) कोकला

कर्णकुटी, अर्द्धचन्द्राकार नलियों तथा कोक्ला में एक तरल पदार्थ भरा रहता है।

सुनने की क्रिया—जब हम बोलते हैं तो हमारे शब्दों से पास की वायु में लहरें (vibrations) उत्पन्न होती हैं। वायु में शब्दों से उत्पन्न हुई लहरें जब कान के बाहरी भाग से टकराती हैं तब वह उन्हें एकत्रित कर कर्णनली में भेज देता है। कर्णनली में प्रवेश करने पर ये स्वर लहरें कान के पर्दे से टकराती हैं। इस पर्दे से सटी होने के कारण मध्यकर्ण की हड्डियों में भी ठीक वैसी ही लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। ये लहरें आगे बढ़ कर अतन्थ कर्ण के तरल द्रव्य में भी लहरें उत्पन्न कर देती हैं। इस तरल द्रव्य की लहरों का समाचार वहाँ पर स्थित श्रवण-नाड़ी मस्तिष्क के श्रवण केन्द्र तक पहुँचाती है और तब मस्तिष्क की सहायता से हम सुने हुए शब्दों को पहचान पाते हैं।

कान के रोग

कान में आँख की भाँति अधिक दोष नहीं पाये जाते। जब कान की बनावट में ही कोई अन्तर या कमी होती है तभी स्वर-लहरों को मस्तिष्क तक पहुँचने में कठिनाई होती है और फलस्वरूप हमारे सुनने में बाधा पड़ती है। कान का पर्दा यदि फट जाय तो हम बिल्कुल नहीं सुन सकते। कान में तिनके आदि डालने, कनपटी पर या सिर पर जोर से मारने या चोट लगने से इसके फटने की सम्भावना रहती है। कुकुर खाँसी (whooping cough), निमोनिया (pneumonia), सरसाम (meningitis) आदि जैसे कठिन रोगों में भी प्राय कान में दोष उत्पन्न हो जाते हैं और हमारे सुनने में अन्तर पड़ने लगता है। अत रोग की अवस्था में तथा उसके बाद भी बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। कान में किसी प्रकार की फुड़िया फुन्सी होना भी बड़ा भयानक होता है। यदि घाव जल्दी नहीं भरता तो वह अन्दर ही अन्दर फैलकर मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। ऐसी अवस्था में वह प्राय सदा ही जीवन के लिये घातक सिद्ध होता है।

घ्राणेन्द्रिय

बनावट—घ्राणेन्द्रिय का अंग हमारी नासिका है। नासिका का जो भाग ऊपर से दिखलाई पड़ता है उसे बाह्य नाक कहा जाता है। इसका कड़ा भाग जो मस्तिष्क के समीप से आरम्भ होता है हड्डी से बनता है। नीचे का कोमल भाग कार्टिलेज, मास व त्वचा से बनता है। नाक के दोनों छिद्र नथुने या नासिकारध्र कहलाते हैं। इन छिद्रा से दिखलाई देने वाली नाक की भीतरी सतह श्लैष्मिक झिल्ली से बनी हुई है। इसमे छोटे-छोटे रोये रहते हैं। इसी पर्त में कुछ ग्रन्थियाॅ भी होती हैं जिनसे एक तरल पदार्थ बराबर निकलता रहता है और नाक की ऊपरी त्वचा को गीला रखता है। दोनों नासिकारध्रों की नलियाॅ थोडा ऊपर बढ़कर फिर नीचे की ओर झुक जाती हैं और हमारे तालु के पिछले भाग में समाप्त हो जाती हैं। नाक की ऊपरी सतह के कुछ भाग में त्वचा के भीतर छोटी-छोटी सावेदनिक सेलें, रक्त नलियाँ तथा नाड़ियाँ होती हैं। यही सावेदनिक सेलें गध का अनुभव करती हैं।

कार्य—नाक के मुख्य दो कार्य हैं —(१) श्वास में सहायता पहुॅचाना और (२) सूॅघना।

हम पढ़ चुके हैं कि श्वास लेने का काम नाक ही करती है। श्वास के लिए खींची हुई वायु जब नाक के अन्दर जाती है तो उसके धूल के कण आदि नाक के बालों में अटक कर रह जाते हैं और इस प्रकार शुद्ध होकर वायु अन्दर फेफड़ो की ओर बढ़ती है। धूल आदि को अन्दर जाने से रोकने के अतिरिक्त नाक से एक लाभ और है। इसकी त्वचा को भीतरी ग्रन्थियो से सदा एक तरल पदार्थ निकल कर नाक को अन्दर से गीला रखता है। इस तरल पदार्थ के सम्पर्क में आने पर वायु भी कुछ सीली हो जाती है। नाक की भीतरी सतह पर रक्त-केशिकाओं का भी घना जाल है। इन केशिकाओ के रक्त की गर्मी के सम्पर्क में आकर यह वायु कुछ गर्म भी हो जाती है। इस प्रकार नाक श्वास की वायु को सीली तथा गर्म बना देती है और बाहर की शुष्क व ठढी वायु सीधे फेफड़ों में पहुॅच कर उन्हें हानि नहीं पहुॅचा पाती।

वायु के साथ जब किसी प्रकार की गंध के कण नाक में पहुँचते हैं तो वहाँ की सांवेदनिक सेलें तुरन्त अपनी गंध-नाड़ियों द्वारा गंधपिंडों अर्थात् मस्तिष्क के गंध केन्द्र तक इसका समाचार पहुँचाती हैं और तब हम उस गंध विशेष को पहचानते हैं। यदि यह गंध किसी प्रकार की सुगन्ध होती है तो हम बार-बार उसे सूँघ कर उसका आनन्द उठाते हैं। इसके विपरीत यदि वायु किसी गंदे स्थान से आती है और उसकी गंध दुर्गन्ध होती है तो हम तुरन्त वहाँ से हट जाते हैं। साथ ही हम अपनी साँस को रोकने की चेष्टा करते हैं जिससे गंदी वायु हमारे फेफड़ों तक न पहुँच सके। यदि हमारी नाक में इस प्रकार दुर्गन्ध और सुगन्ध पहचानने की शक्ति न होती तो हम गन्दे से गन्दे स्थान के समीप की वायु में भी निस्संकोच साँस ले लेते। ऐसी परिस्थिति में अनेकों प्रकार के रोगों के होने की संभावना रहती।

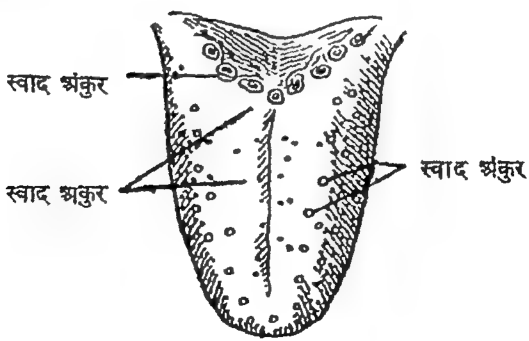
किसी वस्तु की गन्ध अनुभव करने के लिये यह आवश्यक है कि वायु में मिले हुए उसके गन्धकण नाक की ऊपरी सतह से, जहाँ गन्ध सेलें स्थित हैं, टकरायें। यदि ऐसा नहीं होता तो या तो हम गन्ध अनुभव ही नहीं कर पाते या बहुत ही हल्की सी अनुभव करते हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि हम खाद्य वस्तुओं का स्वाद अपनी जिह्वा से अनुभव करते हैं। पर वास्तव में अकेली जिह्वा यह काम नहीं कर सकती, उसे नाक की गन्धसेलों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। यह साधारण अनुभव की बात है कि जब कोई वस्तु नाक बन्द करके खायी या पी जाती है तो हम उसका पूरा स्वाद अनुभव नहीं करते। इसीलिये कुनैन आदि कड़वी दवायें पीते समय लोग नाक बन्द कर लेते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि नाक के छिद्र मुख में तालु के ऊपर खुलते हैं। जब मुख में भोजन पहुँचता है तब उसके गन्धकणों को लेकर मुख की हवा इन्हीं छिद्रों से नाक में पहुँचती है और वहाँ की गन्धसेलों से टकराती है। बाहर से भी भोजन के गन्धकण वायु द्वारा नाक में पहुँचते हैं। इस प्रकार नाक की गन्धसेलें जिह्वा को भोजन का स्वाद अनुभव करने में सहायता देती हैं।

कुछ पशुओं की गन्ध अनुभव करने की सेलें अधिक तीव्र होती हैं। मनुष्यों में भी इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत अन्तर होते हैं। गन्धसेलों या गन्धनाड़ी में रोग या चोट द्वारा किसी प्रकार का दोष उत्पन्न होने से गन्ध अनुभव करने में बाधा पड़ती है। जुकाम की अवस्था में गन्ध अनुभव न कर सकना एक साधारण अनुभव की बात है।

स्वादेन्द्रिय

बनावट—हमारी जिह्वा ही हमारी स्वादेन्द्रिय है। यह हमारे गले के भीतर नीचे की सतह से आरम्भ होती है और आगे की ओर दाँतों के समीप तक आती है। सामने की ओर पीछे की अपेक्षा यह पतली और नुकीली हो जाती है। गले की व निचले जबड़े की हड्डियों से यह मासपेशियों द्वारा जुड़ी रहती है। जिह्वा मास से बनी है और उस पर श्लैष्मिक झिल्ली की पर्त रहती है। अपनी मासपेशियों के संकोचन विमोचन के कारण यह फैल व सिकुड़ सकती है तथा आगे-पीछे व ऊपर-नीचे सब ओर घूम भी सकती है। बोलने में तथा चबाने के लिए भोजन को मुँह में इधर उधर सरकाने में जिह्वा से बड़ी सहायता मिलती है। वरन् यह कहना अधिक ठीक होगा कि जिह्वा के बिना ये दोनों काम हो ही नहीं सकते।



चित्र ३६—जीभ

जिह्वा की श्लैष्मिक झिल्ली की पर्त पर नन्हें-नन्हें बहुत से दाने या अकुर (papillae) पाये जाते हैं। इनमें से कुछ दाने तो स्पर्श व गर्मी-सर्दी अनुभव करते हैं और कुछ स्वाद। स्वाद अनुभव करने वाले दानों के अन्दर स्वाद-कलियाँ (taste buds) होती हैं। जिह्वा की नोक पर तथा जिह्वा के पिछले भागों में ही स्वाद-अकुर विशेष रूप से होते हैं। इन अकुरों के भीतर की स्वाद-कलियों से बाल के सदृश सूक्ष्म नाड़ियाँ निकल कर मुख्य स्वाद-नाड़ी में पहुँचती हैं। यह स्वादनाड़ी स्वाद-कलियों के अनुभव को वृहत् मस्तिष्क के स्वादकेन्द्र तक पहुँचाती है। तब मस्तिष्क की सहायता से हम उस स्वाद को पहचानते हैं। स्वाद अनुभव करने में वस्तु की गन्ध से भी सहायता मिलती है। गन्ध का अनुभव नाक की गन्ध-नाडी गध-केन्द्र तक पहुँचाती है। अत दोनों चीजों का एक साथ अनुभव पहुँचने से हम चीज का स्वाद अनुभव करते हैं।

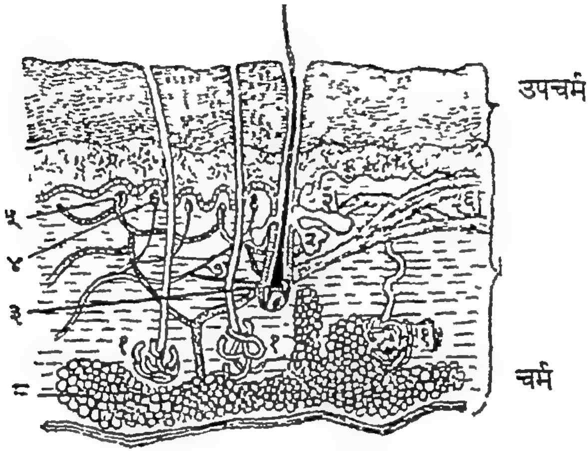
स्वाद कलियों के सम्बन्ध में एक विशेषता और है। विभिन्न स्थानों की स्वाद-कलियाँ विभिन्न प्रकार का स्वाद अनुभव करती हैं जैसे मीठा स्वाद जीभ की नोक की स्वाद-कलियाँ अनुभव करती हैं और जीभ के पीछे के भाग की स्वाद-कलियाँ कड़ुवा स्वाद

स्पर्शेन्द्रिय

विसर्जन संस्थान के वर्णन में हम पढ चुके हैं कि त्वचा पसीने के रूप में हमारे शरीर की गन्दगी निकाल कर हमारे स्वास्थ्य को ठीक रखने में सहायता पहुँचाती है। इसके अतिरिक्त त्वचा हमारे समस्त शरीर पर ढकी हुई है और उसको सुन्दर रूप देने के साथ साथ उसकी रक्षा भी करती है। किन्तु त्वचा का इनसे भी महत्वपूर्ण एक दूसरा कार्य है। चीजों के स्पर्श का तथा गमा-सर्दी का अनुभव हमें त्वचा में फैले हुए नाड़ी-सूत्रों द्वारा ही होता है। इसीसे इसे स्पर्शेन्द्रिय कहा जाता है। इन कामों के अतिरिक्त इसके नन्हें छेदों से त्वचा के अन्दर वायु भी पहुँचती है।

त्वचा हमारे शरीर के ताप को ठीक रखने का भी काम करती है। पसीना त्वचा पर आने के बाद वाष्प रूप में शरीर की गर्मी की सहायता से उड़ता

है। इसी प्रकार जब शरीर को ठढ की ऋतु में शरीर की गर्मी को बाहर नहीं निकालना होता है वरन् अधिक से अधिक अन्दर रखना होता है तब त्वचा से पसीना बहुत ही कम निकलता है और शरीर का तापक्रम ठीक-ठीक बना रहता है। इसके अतिरिक्त गर्म कपड़ों आदि की सहायता से भी त्वचा की गर्मी को बनाये रखा जाता है।



चित्र ४०—त्वचा

[(१) स्वेद ग्रन्थियाँ, (२) तेल ग्रन्थियाँ, (३) रोम, (४) ज्ञान कगूरे, (५) रक्त कंगूरे; (६) मांसपेशियाँ, (७) नाड़ियाँ, (८) चर्बी]

बनावट—हमारी त्वचा की बनावट वैसी सरल नहीं है जैसी ऊपर से देखने से मालूम पड़ती है। चित्र ४० से त्वचा की बनावट स्पष्ट हो जायगी। त्वचा के दो पर्त होते हैं। ऊपर की पर्त उपचर्म (epidermis) और नीचे की चर्म (dermis) कहलाती है।

उपचर्म—उपचर्म कई प्रकार की सेलों से बनता है। इसके ऊपर के सेल सूख-सूख कर झड़ते रहते हैं और उनके स्थान पर सदा नये सेल निकलते रहते हैं। उपचर्म की मोटाई अलग-अलग स्थानों में भिन्न-भिन्न होती है। जैसे हथेलियों

और तलुवों का उपचर्म अन्य स्थानों से मोटा होता है। इस पर्त में लाखों नन्हें नन्हें छिद्र होते हैं। इनके अतिरिक्त लाखों नन्हें नन्हें बाल होते हैं जिन्हें रोयें कहते हैं।

उपचर्म की नीचे वाली सेलों में एक प्रकार का रंग (pigment) रहता है जिसके कम या अधिक होने से मनुष्यों के रंग में अन्तर होता है। जिन लोगों की उपचर्म की ग्रन्थियों में यह रंग कम होता है उनका रंग गोरा (श्वेत) होता है और जितना ही यह रंग अधिक होता है उतना ही मनुष्य का रङ्ग काला होता है।

उपचर्म में रक्त-केशिकायें या नाड़ियाँ नहीं होतीं। इसी से इसमें किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता। इसी से इसे शरीर का ऊपरी आवरण भी कहते हैं।

चर्म—उपचर्म के नीचे वाली दूसरी पर्त चर्म (dermis) कहलाती है। यह पर्त उपचर्म से कुछ मोटी होती है और वास्तव में त्वचा का मुख्य भाग भी यही है। यह सेला और सौत्रिक तन्तुओं के मेल से बनती है। इसमें ही त्वचा की रक्त केशिकायें, नाड़ियों के सिरे (touch corpuscles), स्वेदग्रन्थियाँ (sweat glands) तथा रोओं की जड़ें रहती हैं। रोओं की जड़ों से लगी हुई नन्हीं नन्हीं ग्रन्थियाँ होती हैं। इनमें एक प्रकार का चिकना द्रव्य बनता है जो रोओं व त्वचा को कोमल व चिकना बनाये रखता है। चर्म की ऊपरी सतह पर कगूरों के से उभार होते हैं। इन्हीं के कारण हाथों की अंगुलियों और अंगूठे में धारियाँ सी मालूम पड़ती हैं।

स्पर्श का अनुभव—त्वचा की चर्म नामक पर्त में कुछ चपटी सेलें भी होती हैं। ये स्पर्श सेलें (tactile cells) कहलाती हैं। इनका सम्बन्ध नाड़ी-सूत्रों से होता है। ये शरीर के सब भागों में स्थित हैं, कहीं कम और कहीं अधिक। इसी से कुछ स्थानों की त्वचा अधिक सचेतन होती है और स्पर्श का अनुभव बड़ी शीघ्रता और तत्परता से प्राप्त करती है, जैसे ओंठ व अंगुलियों के सिरे। इसके विपरीत कुछ स्थानों की त्वचा बहुत ही कम सचेतन होती है और

बहुत ही कम अनुभव प्राप्त करती है, जैसे पीठ की त्वचा। त्वचा पर किसी प्रकार के दबाव, गर्मी सर्दी, या किसी वस्तु के स्पर्श का ज्ञान होते ही ये सेलें उत्तेजित हो उठती हैं। अपने से सम्बन्धित नाडी-सूत्रों द्वारा उस समाचार को मस्तिष्क के स्पर्श-केन्द्र तक पहुँचाती हैं। तब मस्तिष्क हमें उसका चेतन रूप से ज्ञान कराता है। शरीर के विभिन्न अंगों की स्पर्श-शक्ति में तो अन्तर होता ही है, मनुष्यों में भी व्यक्तिगत अन्तर होता है। कुछ लोगों की स्पर्श शक्ति बहुत ही कम होती है और कुछ की अधिक। स्पर्श-शक्ति तीव्र होने से मनुष्य केवल स्पर्श मात्र से ही वस्तुओं का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। अंधों में यह विशेषता विशेष रूप से पाई जाती है। उनकी स्पर्श-शक्ति बड़ी तीव्र होती है। दृश्येन्द्रिय के अभाव में वे स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ही सब चीजों का अनुभव प्राप्त करते हैं।

गर्मी-सर्दी व कष्ट का अनुभव—त्वचा द्वारा ही हम गर्मी-सर्दी का अनुभव भी करते हैं। इस अनुभव को प्राप्त करने के लिये उपचर्म के नीचे भिन्न प्रकार की सेलें होती हैं जो अपने अनुभव को अपने से सम्बन्धित नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं जिससे हमें गर्मी या सर्दी की चेतना होती है।

त्वचा पर किसी प्रकार के दबाव का ज्ञान उस अंग विशेष की मांसपेशियों में स्थित नाड़ीसूत्रों द्वारा होता है।

किसी प्रकार के दर्द अथवा कष्ट का अनुभव करने वाली सेलें भी चर्म में स्थित हैं। उन्हीं के द्वारा हम काँटा चुभने, किसी अंग के कटने आदि का अनुभव करते हैं।

पसीना—पसीना स्वेदग्रन्थियों में बनता है। स्वेदग्रन्थियाँ चर्म में फैली हुई केशिकाओं के सम्पर्क में आती हैं। ये उनके रुधिर का अनावश्यक पानी तथा यूरिया, खनिज नमक तथा अन्य अनावश्यक द्रव्य अपने में चूस लेती हैं। स्वेदग्रन्थियों की नली से होकर पसीना उपचर्म के ऊपर आ जाता है। गर्मी की ऋतु में तथा व्यायाम या अन्य शारीरिक परिश्रम के समय पसीना खूब निकलता है। व्यायाम व परिश्रम की अवस्था में शरीर में रक्त-संचार बड़ी तीव्रता से होता है। फलस्वरूप चर्म की रक्त-केशिकाओं में भी रक्त शीघ्रता से पहुँचता है और

स्वेद-ग्रन्थियों को उतनी ही शीघ्रता से काम करना होता है। शीत ऋतु में तथा विश्राम की अवस्था में पसीने की मात्रा बहुत कम रहती है।

पसीना कुछ चिपचिपा होता है। यह हमारे शरीर पर चिपका रहता है। अत इसे छुड़ाना आवश्यक है। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रतिदिन स्नान किया जाय। ऐसा न करने से पसीना त्वचा पर जमा रहता है और फलस्वरूप स्वेद ग्रन्थियों के छिद्र बन्द हो जाने से अन्दर का पसीना बाहर नहीं निकल सकता। परिणाम स्वरूप कई प्रकार के चर्म रोग हो जाते हैं।

प्रश्न

(१) ज्ञानेन्द्रियाँ क्या हैं ? ये बाहरी वस्तुओं का अनुभव कैसे करती हैं ?

(२) कान की बनावट बतलाइये और यह समझाइये कि हम ध्वनि को कैसे सुन पाते है ?

(३) किसी वस्तु की गन्ध हमें कैसे मालूम होती है ? गन्ध अनुभव करने वाले अङ्ग का वर्णन कीजिये।

(४) स्वादकलियाँ क्या है और कहाँ रहती है ?

(५) त्वचा की रचना तथा क्रिया का वर्णन करो। (हाई स्कूल परीक्षा, १९५०)

(६) मनुष्य के नेत्र (eyes) का वर्णन चित्र की सहायता से करिये और बताइये कि अनुकूलन शक्ति (Accommodation of the eye) क्या है ? इसकी आवश्यकता कब पड़ती है ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(७) निम्न में से किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

(१) स्वेद से लाभ, (२) बहरेपन के कारण, (३) दृष्टि को क्षीण होने से बचाने के लिये क्या-क्या सावधानी करनी चाहिये। (हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

स्वास्थ्य

नवाँ अध्याय

वायु

मनुष्य जीवन के लिये वायु अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। यों तो जीवन में भोजन और जल का भी बड़ा महत्त्व है किन्तु इनके बिना मनुष्य फिर भी कुछ समय तक जी सकता है, पर वायु के बिना तो कुछ क्षण भी जीवित रहना असम्भव है। रक्त का शुद्ध होना, भोजन का पचना, पाचक रसों का बनना, विषैले पदार्थों का शरीर से निकलना, इन सब के लिये श्वास द्वारा हमारे शरीर में आक्सिजन-युक्त वायु का पहुँचना अत्यन्त आवश्यक है। आक्सिजन के अभाव में ये क्रियायें नहीं हो सकतीं और फलतः मृत्यु हो जाती है। इसलिये हमारे जीवन में वायु का सबसे अधिक महत्त्व माना गया है।

वायु का संगठन और वायु की उपयोगिता

वायु कई गैसों का एक मिश्रण है। इन गैसों में आक्सिजन (oxygen) तथा नाइट्रोजन (nitrogen) मुख्य हैं। वायु में २१ प्रतिशत आक्सिजन तथा ७८ प्रतिशत नाइट्रोजन पाई जाती है। इन दो गैसों के अतिरिक्त कार्बन डाइ-आक्साइड (carbon-di-oxide), आरगन (argon), अमोनिया (ammonia), ओजोन (ozone), हाइड्रोजन (hydrogen), नाइट्रिक एसिड (nitric acid), नाइट्रोजन पैराक्साइड (nitrogen peroxide), फैक्ट्रियों व मिलों से निकली हुई गैसें व धुआँ भी उन स्थानों की वायु में मिला रहता है।

इन गैसों के अतिरिक्त वायु में प्रायः कार्बनिक पदार्थ तथा खनिज लवण भी पाये जाते हैं।

वायु में लगभग $\frac{4}{5}$ भाग नाइट्रोजन का होता है। नाइट्रोजन रंग, स्वाद व गंध रहित गैस है। वायु में इसका मुख्य कार्य आक्सिजन की तीव्रता को कम करना है। आक्सिजन बहुत क्रियाशील गैस है। एकदम शुद्ध आक्सिजन में साँस लेने से पशु जीवन को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। नाइट्रोजन अक्रियाशील गैस है और इसकी उपस्थिति में आक्सिजन की तीव्रता घट जाती है और वह हमारे तथा पशुओं के उपयोग में उचित रीति से आने के योग्य हो जाती है।

पशुओं तथा पौधों दोनों के ही तन्तुओं को बनाने में नाइट्रोजन बहुत आवश्यक है। हमारे शरीर के सब भाग—मांस, त्वचा आदि—नाइट्रोजन से बने हुए हैं। यदि हम को तथा पेड़ पौधों को अपने भोजन में नाइट्रोजन वाले पदार्थ न मिलें तो हम व पौधे जीवित नहीं रह सकते। किन्तु हम व पौधे अपने शरीर की आवश्यकता के लिये नाइट्रोजन को गैस के रूप में काम में नहीं ला सकते। हमें व पौधों को नाइट्रोजन जब संगठित यौगिकों के रूप में मिलते हैं तभी हम व पौधे उसका प्रयोग कर सकते हैं। कुछ जीवाणुओं में यह गुण होता है कि वे हवा के नाइट्रोजन को खनिज यौगिकों के रूप में बदल कर मिट्टी में पहुँचा देते हैं। नाइट्रोजन के इन यौगिकों को पानी के घोल के रूप में मिट्टी से पेड़-पौधे अपनी जड़ों द्वारा शोषित कर लेते हैं। इन नाइट्रोजन के खनिज यौगिकों से पेड़ अधिक संकीर्ण नाइट्रोजन के पदार्थ बनाते हैं। फल व तरकारियों में नाइट्रोजन ऐसे ही संकीर्ण यौगिक के रूप में रहता है। इन फल व तरकारियों भोजन के रूप में खाकर हम व पशु अपने शरीर की नाइट्रोजन की आवश्यकता को पूरा करते हैं। इस प्रकार वायु की नाइट्रोजन अपरोक्ष रूप से हमें भोजन प्रदान करती है और हमारे शरीर का पोषण करती है।

वायु में आक्सिजन का भाग लगभग $\frac{1}{5}$ है। यह भी रंग रहित गैस है। हम श्वास द्वारा जो वायु अन्दर फेफड़ों में ले जाते हैं उसमें से आक्सिजन की काफी मात्रा हमारा रक्त ले लेता है और उसके स्थान में कार्बन डाइ आक्साइड वायु में मिला देता है। प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन लगभग १ सेर आक्सिजन खर्च

करता है। आग जलने से भी आक्सिजन खर्च होती है और कार्बन डाइ-आक्साइड बनती है। इस प्रकार वायुमडल से आक्सिजन सदा व्यय होती रहती है और उसमें कार्बन डाइ-आक्साइड मिलती रहती है।

वायु में केवल ०४ प्रतिशत ही कार्बन डाइ-आक्साइड गैस होती है। यह वही गैस है जो साँस छोडने में हम अन्दर से निकालते हैं और जो हमारे शरीर के लिये हानिकारक है। यह भी रग रहित होती है। यह गैस जीवों की श्वासक्रिया, आग के जलने, वस्तुओं के सड़ने तथा मिट्टी में होने वाली रासाय निक क्रियाओं के फल-स्वरूप बनती है और हवा में मिलती रहती है। कार्बन डाइ-आक्साइड स्वाद और गन्ध में कुछ अम्ल (acid) होती है। यह गैस सब गैसों से भारी होती है। इसका कार्य आक्सिजन के कार्य का एकदम विपरीत है। यह जीवन के लिये घातक होती है और आग के जलने में बाधक।

रात्रि में पेड पौधे आक्सिजन को ग्रहण करते और कार्बन-डाइ आक्साइड बाहर छोडते हैं। इससे भी वायु में इसकी मात्रा बढ़ती है। वायु में इसकी उपस्थिति कई सरल प्रयोगो द्वारा जानी जा सकती है।

प्रयोग—थोड़ा चूना पानी में घोल कर हवा में रख दें। कुछ ही समय बाद उसका रग दूधिया हो जायगा।

ओजोन आक्सिजन का ही एक संगठित रूप है। यह बड़ी तीव्र गैस होती है। यह समुद्रतट तथा पहाड़ों की वायु में ही रहती है। यह स्वास्थ्य के लिये, विशेष रूप से कुछ रोगों में, उपयोगी होती है। इसलिए कई प्रकार के रोगों में रोगी को किसी पहाड़ पर अथवा समुद्रतट पर ले जाने का डाक्टर लोग आदेश देते हैं। अधिक मात्रा में उपस्थित होने पर यह आँख और नाक को कष्टप्रद प्रतीत होती है।

वायु में रहने वाली कोई गैस स्वाभाविक मात्रा में होने पर हानि नहीं पहुँचाती। धूल के कण तथा गन्दे स्थानों से वायु में मिली हुई अन्य गन्दगियाँ ही जब वायु मे उपस्थित होती हैं तभी वायु हानिकर होती है।

वायु की गर्मी से पानी सदैव भाप बन कर वायु में मिलता रहता है। इस प्रकार जल वाष्प थोड़ी मात्रा में वायु में सदैव उपस्थित रहता है। इसकी अधिकता में वायु में नमी या सीलापन स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। इसके न रहने से वायु अधिक शुष्क हो जाती है और प्राणी व वनस्पति जगत के लिए हानिकर सिद्ध होती है। अतः वायु में इसकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इसकी अधिकता स्वास्थ्य के लिए अच्छी नहीं होती। साधारणतः वायु में इसकी मात्रा १ से १½ प्रतिशत तक रहती है।

अमोनिया गैस नाइट्रोजन और हाईड्रोजन के सम्मिश्रण से मिल कर बनती है। यह रंग रहित होती है पर अपनी विशेष गन्ध के कारण तुरन्त पहचानी जा सकती है। यह बहुत ही कम मात्रा में वायु में उपस्थित रहती है। वर्षा के जल के साथ जब घुलकर यह पृथ्वी में पहुँच जाती है तब वनस्पति जगत के लिए उत्तम भोजन पदार्थ सिद्ध होती है।

अन्य सभी गैसें बहुत ही थोड़ी मात्रा में उपस्थित रहती हैं और कोई विशेष प्रभाव नहीं डालतीं।

वायु गन्दी कैसे होती है ?

वायु पाँच प्रकार से गन्दी होती है—श्वासोच्छ्वास क्रिया से, आग जलने से, वस्तुओं के सड़ने से, धूल के मिलने से तथा रोगों के जीवाणुओं के मिलने से।

श्वासोच्छ्वास क्रिया—प्रत्येक बार श्वास लेने पर जब बाहर की शुद्ध वायु फेफड़ों में पहुँचती है तब वहाँ मौजूद अशुद्ध रक्त उसकी आक्सिजन को अपने में सोख लेता है और अपनी सब गन्दगी उसमें मिला देता है। प्रश्वास द्वारा बाहर निकली हुई वायु में आक्सिजन की मात्रा २१ प्रतिशत से घटकर केवल १६ प्रतिशत ही रह जाती है, तथा कार्बन डाइ-आक्साइड की मात्रा ०.४ प्रतिशत से बढ़कर ४ प्रतिशत हो जाती है। इसके अतिरिक्त जलवाष्प की मात्रा ५ प्रतिशत हो जाती है तथा अन्य कार्बनिक (organic) गन्दगियाँ भी उसमें

मिल जाती हैं। यदि किसी प्रकार का रोग जैसे क्षयरोग, डिप्थीरिया आदि हो तो उनके जीवाणु भी प्रश्वास द्वारा निकली वायु में रहते हैं।

आग जलना—जब कोई वस्तु जलती है तो उसके आसपास की वायु उसे जलने में सहायता पहुँचाती है। जलने की क्रिया में उस वायु की आक्सिजन जलकर समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर कार्बन डाइ-आक्साइड गैस बनकर वहाँ की वायु में मिल जाती है। इस प्रकार कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की मात्रा बढ़ जाने से वहाँ की वायु अशुद्ध हो जाती है।

वस्तुओं का सड़ना—जब कोई वानस्पतिक वस्तु या मास आदि सड़ता तो उसमें से गन्दी वायु निकलकर वायुमडल में मिलती है और शुद्ध वायु को अशुद्ध बनाती है। नालियों, कूड़ा-कचरा एकत्र करने के स्थानों, घुड़सालों, गोशालाओं आदि की सफाई यदि ठीक-ठीक नहीं होती तो वहाँ की गन्दगी भी सड़ने लगती है और वायु को अशुद्ध बनाती है। इस प्रकार की गन्दी वायु स्वास्थ्य के लिये विशेषरूप से हानिकर है। अत: स्वच्छ शुद्ध वायु पाने के लिए यह आवश्यक है कि अपने घर की तथा उसके आस पास के स्थान की सफाई का पूरा प्रबन्ध रखा जाये।

धूल के कण—धूल के कण स्वय तो स्वास्थ्य के लिये विशेष हानिकर नहीं हैं, किन्तु उनके साथ जीवाणु या अन्य सड़ी-गली वस्तुओं के सूखे कण भी उड़ते हैं। वे स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं तथा जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होने वाले बहुत से रोगों को फैलाते हैं।

रोगों के जीवाणु—बहुत से रोगों के जीवाणु हवा मे उड़ते रहते हैं। ऐसी वायु मे श्वास लेने से ये जीवाणु साँस के साथ शरीर में प्रवेश करते हैं और फिर रोग उत्पन्न करते हैं।

अशुद्ध वायु के दुष्परिणाम

अशुद्ध वायु मे कार्बन डाइ-आक्साइड तथा वाष्पकण की मात्रा अधिक होती है। इनके अतिरिक्त इसमे अन्य जहरीली गैसें, कार्बनिक गदगियाँ, धूल के कण तथा बहुधा रोगों के जीवाणु भी मिले रहते हैं।

इन सब गंदगियों के कारण ऐसी वायु में साँस लेने से मनुष्य को बड़ी हानि होती है। कार्बन डाइ-आक्साइड गैस जहरीली होती है और इसकी अधिकता में तुरन्त ही मनुष्य सिर में दर्द, जी मिचलाना और दम घुटने का सा अनुभव करने लगता है और यदि तुरन्त वहाँ से हट न जाय तो शीघ्र ही उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

वाष्पकण की अधिकता में मनुष्य जी मिचलाने का और सिर में दर्द होने का अनुभव करता है। कार्बनिक गंदगियाँ तथा अन्य दूषित गैसों का भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी मात्रा अधिक होने से मनुष्य की मृत्यु भी हो जाती है। धूल आदि के कणों से आँखें दुखने आ जाती हैं। रोग के कीटाणु रोग उत्पन्न करते हैं। ये कीटाणु प्राय. राजयक्ष्मा तथा शीतला आदि रोगों के होते हैं और यही रोग उत्पन्न भी करते हैं।

कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जो वायु को दूषित बनाते हैं और इस कारण उनका स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है, जैसे चमड़े का काम, पीतल आदि धातुओं के बर्तन बनाना, पत्थर तोड़ना या पत्थर पर नक्काशी करना, रुई धुनना, ऊन बुनना, शीशा, काँच, पारा आदि का काम, तम्बाकू का काम आदि। कुछ ऐसे भी काम हैं जिसमें विषैले रासायनिक द्रव्य काम में लाने पड़ते हैं अत उन कामों का भी मनुष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अत इस प्रकार के व्यवसाय करने वालों को अपना काम यथासम्भव खुली वायु में करना चाहिए तथा रहना भी खुली और हवादार जगहों में चाहिए। कारखानों में जहाँ अधिक मात्रा में काम होता है, काम करने वालों के स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

यदि वायु कम गंदी हो और मनुष्य को उसका कोई विशेष अनुभव न हो तो भी ऐसी गंदी वायु में बराबर साँस लेते रहने से मनुष्य की जीवनी-शक्ति कम होती जाती है और उसका स्वास्थ्य खराब होता जाता है। अत. गंदी वायु से सदैव बचना चाहिए।

शुद्ध वायु का महत्त्व

जैसा के हम ऊपर कह चुके हैं जीवित रहने के लिए वायु सबसे आवश्यक वस्तु है। इसके न मिलने से कुछ क्षण में ही जीवन का अन्त हो जाता है। जीवित रहने और स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए शुद्ध वायु प्राप्त होना अत्यन्त आवश्यक है। वायु साँस द्वारा हमारे शरीर में पहुँचती है। साँस लेना और निकालना एक अकारण व निष्प्रयोजन क्रिया नहीं है। साँस द्वारा भीतर पहुँची हुई वायु की आक्सिजन हमारे रक्त की शुद्धि करती है। ओषदीकरण की क्रिया द्वारा रक्त की अशुद्धियाँ जलकर कार्बन डाइ-आक्साइड गैस के रूप में परिवर्तित होकर साँस द्वारा बाहर निकल जाती हैं। इस प्रकार वायु से हमारे रक्त की शुद्धि होती है। यदि हम गदी वायु में साँस लें तो इस प्रकार रक्त की शुद्धि सभव न हो सके।

शरीर में भोजन का पचना, रसों का बनना आदि क्रियायें भी रक्त में मिली आक्सिजन के सम्पर्क से ओषदीकरण होने के फलस्वरूप होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन की सभी क्रियाओं के लिए शुद्ध वायु प्राप्त होना आवश्यक है। इसके अभाव में शरीर रोगी और कमजोर हो जाता है।

पेड़ पोधों के जीवन व आग जलने के लिए भी आक्सिजन की आवश्यकता होती है और आक्सिजन हमें शुद्ध वायु में ही प्राप्त होती है।

वायु की शुद्धि

जैसा कि हम पढ़ चुके हैं ससार में लकड़ी, कोयला आदि के जलने से तथा हमारे और पशुओं के बराबर साँस लेने से कार्बन डाइ-आक्साइड गैस हवा में मिलती रहती है। यदि यह गैस हवा मे बराबर इकट्ठी होती रहे तो कुछ दिन में इतनी इकट्ठी हो जाय के हवा में हमारा साँस लेना कठिन हो जाय और तब हम सभवत: जीवित भी न रह सकें। किन्तु प्रकृति ने ऐसा नियम बनाया है कि यह गैस हवा में इकट्ठी नहीं होने पाती और वायु शुद्ध बनी रहती है।

वायु की शुद्धि निम्न उपायों से होती है—

(१) वायु की शुद्धि करने का काम मुख्यत. पेड़ पौधों की हरी पत्तियाँ करती हैं। पत्तियाँ हवा से कार्बन डाइ-आक्साइड गैस अपने अन्दर चूस लेती हैं और उससे अपना भोजन बनाती हैं। भोजन बनाने की इस क्रिया में, आक्सिजन गैस उत्पन्न होती है जो हवा में मिल जाती है। इस प्रकार हवा की विषैली कार्बन डाइ आक्साइड गैस के निकल जाने और उसके स्थान में आक्सिजन के मिल जाने से वायु शुद्ध हो जाती है। अत हम देखते हैं कि एक ओर तो आक्सिजन के खर्च होने और कार्बन डाइ-आक्साइड गैस के मिलने से वायु अशुद्ध होती है और दूसरी ओर पौधों द्वारा कार्बन डाइ-आक्साइड गैस के चूसने तथा आक्सिजन के उत्पन्न होने से वायु शुद्ध होती है। ये दोनों क्रियायें एक दूसरे का सतुलन करती हैं और फलस्वरूप हवा में आक्सिजन और कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की मात्रायें सदा एक निश्चित अनुपात में रहती हैं।

(२) वर्षा द्वारा भी वायु की शुद्धि होती है। अमोनिया गैस तथा धूल के कण आदि की गन्दगी वर्षा के जल में मिलकर बह जाती है और हवा शुद्ध हो जाती है।

(३) धूप वायु में मिले रोगों के जीवाणुओं को मारकर हवा को शुद्ध करती है। वस्तुओं के सड़ने व गलने से मिली गन्दगी भी धूप के प्रभाव से नष्ट हो जाती है।

(४) तेज हवा या आँधी चलने से एक स्थान की दूषित वायु फैल कर दूर तक बह जाती है और वहाँ शुद्ध वायु आ जाती है। गन्दी वायु दूर तक फैल-कर बहुत सी शुद्ध वायु में मिल जाती है। इस प्रकार उसकी अशुद्धि की प्रतिशत मात्रा इतनी कम हो जाती है कि वह प्रभावहीन हो जाती है।

(५) वायु जब गरम होती है तब हल्की हो जाती है और ऊपर उठती है। उस स्थान के रिक्त होते ही आस-पास की अपेक्षाकृत ठंडी और भारी वायु आकर उसका स्थान ले लेती है। इस प्रकार गंदी वायु कहीं भी एकत्रित नहीं होने पाती और इस प्राकृतिक साधन से भी वायु सदैव शुद्ध होती रहती है।

इन विभिन्न प्राकृतिक उपायों द्वारा सदव वायु शुद्ध होती रहती है।

वायु का आवागमन

ससार में प्रत्येक स्थान पर वायु अवश्य उपस्थित रहती है। इस सिद्धान्त के आधार पर हम जानते हैं कि प्रत्येक मकान में तथा मकान के प्रत्येक भाग में वायु रहती है। किन्तु जिस स्थान पर कोई रहता है उस स्थान की वायु विभिन्न कारणों से गन्दी भी होती रहती है। यदि कोई ऐसा कमरा हो जिसमें केवल मात्र एक ही द्वार हो तो उसमें वायु का आगमन ठीक से नहीं हो पायगा। यदि उसका यह द्वार भी बन्द कर दिया जाय तो उसमें वायु के आने जाने के लिये तनिक भी मार्ग नहीं रहेगा। ऐसी परिस्थिति में उस कमरे में रहने वाले मनुष्यों के साँस लेने से कुछ समय बाद ही कमरे की वायु की सब आक्सिजन समाप्त हो जायगी और उसमें केवल कार्बन डाइ-आक्साइड गैस ही रह जायगी। इसका परिणाम क्या होगा, यह स्पष्ट ही है। यदि यथासमय द्वार खोलकर इन लोगों को बाहर न निकाल लिया जाय तो वे सब वहीं मर जायेंगे। अत उन कमरों में, जहाँ वायु के आवागमन के लिये कई द्वार, खिड़कियाँ व रोशनदान न हो, रहना सदा घातक सिद्ध होता है। खिडकियों व दरवाजों के होने से अशुद्ध वायु बाहर निकलती रहती है और शुद्ध वायु अन्दर आती रहती है। इसके लिये द्वार और खिडकियाँ आमने-सामने होनी चाहिये। एक ओर से जब वायु कमरे में प्रवेश करती है तो वहाँ की गन्दी वायु को दूसरी ओर ढकेल कर बाहर निकाल देती है और उसका रिक्त हुआ स्थान स्वय ले लेती है। इस प्रकार कमरे में वायु का आगमन होता रहता है।

प्रत्येक मकान में शुद्ध वायु के अन्दर आते रहने और अशुद्ध वायु के बाहर निकलते रहने का प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। वायु के इस आवागमन के प्रबन्ध को सवातन भी कहते हैं।

हम जानते हैं कि वास्तव मे. जितना स्थान एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए उतना ९९ प्रतिशत घरों में नहीं मिलता।

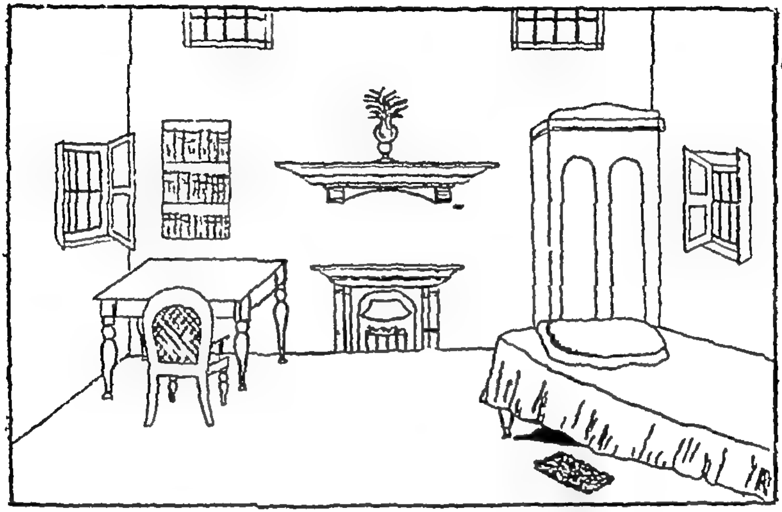
परिणाम यह होता है कि उन्हें अपने लिए पर्याप्त शुद्ध वायु भी प्राप्त नहीं होती। जब एक कमरे में आवश्यकता से अधिक व्यक्ति रहते हैं तो वायु भी उसी अनुपात में गन्दी भी जल्दी होती है और यह आवश्यक होता है कि संवातन का प्रबन्ध उतना ही अच्छा हो।

मकानों में अच्छे संवातन का प्रबन्ध करना अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने की पहली सीढ़ी है। इसके लिये दरवाजों व खिड़कियों के अतिरिक्त कमरों में रोशनदानों का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। कमरे की अशुद्ध वायु गर्म और हल्की होती है तथा बाहर की शुद्ध वायु ठंडी और भारी होती है। कमरे की गर्म और हल्की वायु ऊपर छत की ओर जाती है और बाहर की ठंडी व भारी वायु नीचे उसका स्थान ले लेती है। जो अशुद्ध वायु ऊपर एकत्र होती है उसके बाहर निकलने के लिये ऊपर रोशनदानों का होना आवश्यक है। रोशनदान कमरे की दीवारों में ऊपर छत की ओर होने चाहिये, तभी ऊपर उठी हुई गन्दी हवा बाहर निकल सकेगी।

कमरों में चिमनी का होना भी संवातन में सहायक होता है। चिमनी के अन्दर की वायु बाहर की वायु से गर्म होती है। अतः जब चिमनी के ऊपर से हवा का झोंका जाता है तब वह चिमनी के अन्दर की गर्म हवा को अपने साथ खींचता है। चिमनी की गर्म वायु इस प्रकार बाहर आती है और उसका स्थान कमरे की दूसरी वायु ले लेती है। उस प्रकार वायु का आवागमन चालू रहता है। चिमनी में आग जलाने पर उसके अन्दर की वायु अधिक गर्म होकर भी संवातन में सहायक होती है।

सिनेमाघरों, फैक्ट्रियों तथा टाउनहाल जैसे स्थानों में प्राकृतिक रूप से हवा के आवागमन का प्रबन्ध ही पर्याप्त नहीं होता। वहाँ कृत्रिम उपायों का भी आश्रय लेना पड़ता है। इसकी सरलतम विधि पंखों का उपयोग है। ये पंखे विशेष रूप से इसी काम के लिए बने होते हैं। कुछ पंखे तो नीचे की ओर लगे रहते हैं और बाहर की शुद्ध वायु को अन्दर खींचते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पंखे छत के समीप रोशनदानों के स्थानों पर लगे रहते हैं। ये उस स्थान की अशुद्ध वायु को, जो हल्की होकर ऊपर छत की ओर उठ जाती है, बाहर निकाल देते

हैं। इस प्रकार वहाँ पर कृत्रिम ढङ्ग से वायु का आवागमन चलता रहता है। पखों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की चिमनी और रोशनदान बनाकर भी सवातन का प्रबन्ध किया जाता है।



चित्र ४१—कमरे में वायु का आवागमन

वायु और स्वास्थ्य—अशुद्ध वायु से युक्त बन्द कमरों में रहने से स्वास्थ्य खराब होता है। ऐसे स्थानों पर रहने से आलस्य, सिर दर्द, जी मचलाना, वमन आदि होने लगते हैं। भूख न लगना, भोजन न पचना, रुधिर का अभाव आदि लक्षण धीरे-धीरे दिखलाई पड़ने लगते हैं। फलस्वरूप ऐसे लोगों की शारीरिक शक्ति कम हो जाती है। उनकी काम करने की शक्ति भी अत्यन्त कम हो जाती है। वे प्रत्येक काम में बहुत ही शीघ्र थकान अनुभव करने लगते हैं। इन सब के अतिरिक्त अशुद्ध वायु का सब से घातक रूप छूत के रोगों को फैलाने मे दिखलाई पडता है। अशुद्ध वायु में छूत से फैलने वाले रोगों—इन्फ्लुएन्जा (influenza), निमोनिया (pneumonia), तपेदिक

(tuberculosis) आदि—के जीवाणु पाये जाते हैं। ऐसी वायु में साँस लेने से ये जीवाणु शरीर में प्रवेश करके हमें इन रोगों का शिकार बना देते हैं।

अत स्वस्थ रहने के लिये यह आवश्यक है कि हमारे रहने के कमरों में दरवाजों, खिड़कियों व रोशनदानो का समुचित प्रबन्ध हो। हमे सदा खुली वायु में सोना चाहिये। जाड़े की ऋतु में भी एकदम बन्द कमरे में सोना ठीक नहीं है। जाड़े के दिनों में कमरे की खिड़कियाँ इस प्रकार खुली रखनी चाहिये कि सीधे शरीर पर हवा का झोंका न लगे, किन्तु साथ ही कमरे में वायु का आवागमन होता रहे।

अच्छे स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक है कि मैदानों व बाग बगीचा की स्वच्छ हवा में घूमा जाय। छोटे बच्चों को भी खुली हवा में रखना चाहिये तभी वे स्वस्थ रह सकते हैं।

मुँह ढक कर सोना भी इसी कारण हानिप्रद आदत मानी जाती है। मुँह ढक कर सोने से चादर के अन्दर की हवा मे ही हम बार बार साँस लेते हैं, फलस्वरूप वह हवा थोड़ी ही देर में अशुद्ध हो जाती है और हम उसी अशुद्ध हवा में साँस लेते रहते हैं और अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। अतः सदैव मुँह खोल कर सोना चाहिये। जाड़े के दिनों में भी सिर और माथे को इस प्रकार ढकना चाहिये कि हमारी नाक खुली रहे और हमें साँस लेने के लिये शुद्ध वायु मिलती रहे। बचपन से ही बच्चों में मुँह न ढक कर सोने की आदत डालनी चाहिये।

प्रश्न

(१) वायु शरीर के लिये क्यों आवश्यक है ?

(२) शुद्ध और अशुद्ध वायु मे क्या अन्तर है ? समझाइये।

(३) वायु के अशुद्ध होने के क्या कारण हैं ? क्या वायु को अशुद्ध होने से बचाया जा सकता है ?

(४) अशुद्ध वायु शुद्ध कैसे होती है ?

(५) खुले स्थानों पर सोने का क्या लाभ है ?

(६) कमरे की हवा को शुद्ध कैसे रखा जा सकता है ?

(७) वायु के आवागमन (वेंटिलेशन) से क्या अभिप्राय है ? यह क्यों आवश्यक है कि आपके मकान में अच्छी तरह वायु का आवागमन होता रहे ?

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५०)

(८) वायु किस प्रकार गंदी हो जाती है, गंदी वायु का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(९) वायु के सब तत्व और जीवन में उनकी उपयोगिता बताइये। वायु कैसे अशुद्ध होती है ? प्रकृति वायु को कैसे शुद्ध करती है ?

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(१०) संक्षेप में वर्णन करो—कमरों में वायु का प्रवेश व निकास।

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

दसवाँ अध्याय

जल

वायु के बाद जीवन की आवश्यक वस्तुओं में दूसरा स्थान जल का है। जल जीवन का सार है। हमारे शरीर का ५६ प्रतिशत भाग पानी है। प्रश्वास तथा मलमूत्र व पसीने के साथ हमारे शरीर का कुछ पानी बाहर निकल जाता है। अत. पानी पीकर हमें उस कमी को पूरा करना पड़ता है। भोजन पचाने के लिये भी पानी पीने की आवश्यक्ता होती है। इसके अतिरिक्त हमें अन्य कई कार्यों के लिये भी जल की आवश्यकता पड़ती है। शरीर तथा कपड़ों की सफाई, घर की सफाई, भोजन बनाना आदि सभी कामों में पानी की आवश्यक्ता होती है। प्रत्येक मनुष्य को प्रति दिन लगभग २५ गैलन पानी अपने सभी कार्यों के लिए मिलाकर चाहिए। इसके अतिरिक्त हमारे नगर की स्वच्छता व अनेक कारबारों के लिए भी पानी की आवश्यकता होती है। इसी से पानी का इतना महत्व है।

पानी ठोस, तरल व गैस तीनों ही रूपों में पाया जाता है। इसका ठोस रूप बर्फ तथा तरल रूप जल है। पानी का गैस रूप बादल व वायु में मिली भाप है। जल वास्तव में एक रासायनिक यौगिक है। इसमें दो भाग उदजन (हाइड्रोजन) तथा एक भाग ओषजन (आक्सिजन) होता है।

जल हमें वर्षा, नदी, तालाबों, झीलों, झरनों, सोतों व कुओं से मिलता है। समुद्र का जल खारी होने के कारण पीने के काम में नहीं आता।

वर्षा का जल—भाप बन कर जब जल बादल के रूप में ऊपर उठता है तो अधिक ऊँचाई पर पहुँच कर ठंढक पाने से यह वाष्प जलकणों में परिवर्तित हो जाता है और फिर वर्षा होती है। यह जल सब से शुद्ध व पवित्र तथा

स्वादिष्ट होता है और इसीलिये सब से उत्तम भी होता है। इस जल में कैलसियम (calcium) और मैगनीसियम (magnesium) लवण नहीं होते। अत: यह भोजन बनाने व पीने के लिये अच्छा होता है।

वर्षा का जल पृथ्वी पर ढाल की ओर बहने लगता है और समीप की नदी, तालाब आदि में मिल जाता है। कुछ जल पृथ्वी भी सोख लेती है। बहुत से मनुष्य वर्षा के जल को अपने उपयोग के लिये एकत्र करते हैं। प्राय: लोग घर की छत पर गिरता हुआ पानी एकत्र करते हैं, पर यह वर्षा का जल एकत्र करने की ठीक विधि नहीं है। इस प्रकार एकत्र किये गये पानी में छत के ऊपर की धूल, मिट्टी व कूड़ा करकट भी मिला रहता है। धूल के बारीक कण छानने पर भी पानी से नहीं निकलते। अत यह पानी स्वास्थ्य के लिये हानिकर सिद्ध होता है। स्वास्थ्योपयोगी वर्षा का शुद्ध जल एकत्र करने की सर्वोत्तम विधि यह है कि आगन में अथवा अन्य खुले स्थान पर चौड़े मुँह के बर्तन रख कर पानी एकत्र किया जाय। इस प्रकार बहुत थोड़ा पानी एकत्र किया जाता जा सकता है। अत: यदि एक बड़ी सी चादर आँगन में बाँध दी जाय तो उसके ऊपर गिरने वाला पानी एकत्र होकर चादर के बीच में से गिरेगा। इस स्थान के नीचे बर्तन रखकर पर्याप्त पानी एकत्र किया जा सकता है। इस तरह एकत्र करने से वर्षा का जल शुद्ध बना रहेगा और उसमें पृथ्वी के ऊपर की कोई गन्दगी नहीं मिल सकेगी।

तालाबो और झीलों का जल—यह पानी भी पीने के काम में बहुतायत से आता है। तालाबों का पानी तो सबसे गन्दा होता है। इनमें न तो बराबर ताजा पानी आता है और न इनका पानी बाहर ही निकलता है। इस पानी में कोई बहाव नहीं होता, सदा स्थिर बना रहता है। जब वर्षा होती है तो ये तालाब भर जाते हैं। लोग इनका पानी पीने, भोजन पकाने, नहाने व कपड़े धोने आदि सभी काम मे लाते हैं। गाँवों में जहाँ नदियाँ नहीं हैं तालाबों का पानी ही उपयोग मे आता है। यहाँ पशु भी आकर इन्हीं मे से पानी पीते हैं और प्राय: इनके अन्दर जाकर नहा भी लेते हैं। मनुष्य स्वय भी इनमें अथवा इनके-

किनारे बैठकर नहाते, कपड़े धोते व बर्तन माँजते-धोते हैं। इन सब कारणों से इन सब तालाबों का जल और भी गन्दा हो जाता है और पीने के काम का नहीं रह जाता। फिर भी पानी का दूसरा प्रबन्ध न होने से तथा अज्ञानतावश गाँवों में लोग इसी पानी को पीने तथा भोजन पकाने के काम में लाते हैं।

झीलों का जल तालाबों की अपेक्षा अच्छा होता है। एक तो ये बहुत बड़ी होती हैं जिससे इनका पानी तालाबों की भाँति जल्दी गंदा नहीं हो पाता। दूसरे प्राय सभी झीलों में नीचे सतह पर सोते होते हैं जिनमें से सदा नया जल आता रहता है। इसी से ये कभी सूखती भी नहीं हैं। नया जल आते रहने से इनके जल में गति भी होती रहती है। बहुत सी झीलों का पानी खारी होता है और पीने के काम में नहीं आता। जिन स्थानों पर मीठे पानी की झीलें होती हैं वहाँ पर उन्हीं का पानी पिया जाता है।

यदि झीलों व तालाबों के किनारे नहाने-धोने का काम न किया जाय तथा अन्य प्रकार से भी उनकी सफाई का विशेष ध्यान रखा जाय तो इनका पानी काफी साफ रह सकता है। जिन तालाबों का पानी पीने के काम में लाना हो उनमें पशुओं को पानी पीने व नहाने के लिये न जाने देना चाहिए। साथ ही मनुष्यों को भी उनमें या उनके किनारे नहाना, कपड़े धोना, तथा बर्तन आदि माँजने का काम नहीं करना चाहिए। ऐसे तालाबों में कुछ मछलियाँ डाल देनी चाहिए जो उनमें उत्पन्न होने वाले कीड़ों आदि को खाकर जल को शुद्ध रखें। बीच-बीच में तालाब की सतह की सफाई भी करनी चाहिये।

नदी का जल—नदी का जल पीने के लिए अच्छा होता है। नदी का जल कभी स्थिर नहीं रहता। किसी एक स्थान पर वही जल कुछ क्षण भी नहीं ठहरता। नदी के जल की गति अविराम रूप से सदा चलती रहती है। अत: यदि नदी में कोई गन्दगी डाली भी जाती है तो वह उसमें ठहर नहीं पाती, पानी के साथ बह जाती है। फिर भी पीने के लिए लेते समय नदी का जल भी किनारे से कुछ हटकर बहती धारा से लेना चाहिए। साथ ही जिस स्थान पर कोई गंदा नाला आदि नदी में मिलता हो, या लोग कपड़े धोते हों उससे काफी दूरी पर से पानी लेना चाहिए।

कुओं का जल—वर्षा का जो जल पृथ्वी की सतह के अन्दर सोख जाता है वह नीचे जाने पर जब कड़ी चट्टानों पर पहुँचता है तो उनके अन्दर सोख नहीं पाता और वहीं एकत्र होने लगता है। कड़ी चट्टान के ऊपर जिस ओर ढाल होता है उसी ओर यह पानी बहने लगता है। इस प्रकार पृथ्वी की सतह के ऊपर की भाँति पृथ्वी के नीचे भी जगह जगह नदियाँ, तालाब आदि हैं। पृथ्वी के नीचे रहने वाले पानी में कार्बोनेट चूना, और खनिज नमक अधिक मात्रा में घुल जाते हैं। यह पानी प्राय कुयें खोद कर ही प्राप्त किया जा सकता है, पर कहीं-कहीं सोतों द्वारा भी पृथ्वी के ऊपर आ जाता है। सोतों का पानी अपने उद्गम स्थान पर एकदम स्वच्छ होता है। कुछ दूर बहने के पश्चात् इसमें अन्य गन्दगियाँ यदि मिल जाती हैं तो अवश्य इसे गदा बना देती हैं।

कुओं का पानी स्वच्छ रखने के लिए यह आवश्यक है कि कुआँ पक्का बना हो और उसके चारों ओर ऊँची जगत बनी हो। इससे आस-पास की सतह का गन्दा पानी कुयें तक नहीं पहुँच पाता। यदि कुयें के ऊपर छत या टीन की छाया हो तो सूखी पत्ती आदि की गन्दगी भी अन्दर नहीं जा पाती। कुयें की जगत पर बैठ कर नहाना या कपड़े धोना नहीं चाहिए। ऐसा करने से गदा पानी कुयें में पहुँच कर शेष पानी को भी गदा कर देता है। पानी लेने के पश्चात् कुये से कुछ दूर हट कर ही नहाने धोने का काम करना चाहिए। कुयें के आस पास मल-मूत्र भी नहीं त्याग करना चाहिए क्योंकि पानी के साथ बहकर इस गन्दगी के कुयें में पहुँचने की सभावना रहती है। साधारणत कच्चे कुओं का पानी अधिक गदा होता है। सफाई का ध्यान रखने से कुओ का पानी काफी साफ रखा जा सकता है। एक या दो सप्ताह बाद थोड़ा सा पोटेसियम परमैंगनेट (potassium permanganate) कुयें के जल में डाल देना चाहिए। इससे जल के जीवाणु मर जाते हैं। साल में दो बार पूरे कुयें की नीचे तक सफाई करवाना भी अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी कुओं में पशु गिर जाते हैं और इनके सड़ने से पानी बेकार हो जाता है। अत इसका आभास पाते ही तुरन्त कुओं की नीचे से सफाई करवा कर मरे हुये पशु को निकलवाना चाहिए। इसके बाद पोटेसियम परमैंगनेट द्वारा जल की शुद्धि करनी चाहिए।

कुओं के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान रखने की है। गहरे कुओं का जल छिछले कुओं से अधिक अच्छा होता है। जो कुयें पृथ्वी की सतह से अधिक गहराई पर होते हैं उनका पानी अधिक स्वच्छ रहता है। उतनी गहराई पर पानी पृथ्वी के भीतर की मिट्टी, बालू और पत्थरों आदि में छनता हुआ वहाँ तक पहुँचता है, इससे वह स्वच्छ होता है। पृथ्वी पर कुँये के आस-पास कोई गन्दगी यदि कभी डाली भी जाय तो पृथ्वी में सोखकर उतनी गहराई तक पहुँच कर उसके पानी में मिलने की सम्भावना बहुत कम रहती है। यदि कुआँ पृथ्वी की सतह से कम गहरा होता है तो उसका पानी उतना स्वच्छ नहीं होता है। पृथ्वी पर की गन्दगी के पृथ्वी से सोख कर भी उसमें मिलने की सम्भावना अधिक रहती है।

छिछले कुएँ का पानी यदि प्रयोग में लाना ही पड़े तो कुआँ पक्का होना चाहिए। उसकी भीतरी दीवार पक्की सीमेंट की बनानी चाहिए तथा ऊपर जमीन पर कुएँ के चारो ओर काफी दूर तक पक्की जगत बनानी चाहिए जिससे मिट्टी में सोख कर किसी प्रकार की गन्दगी अन्दर न जा सके।

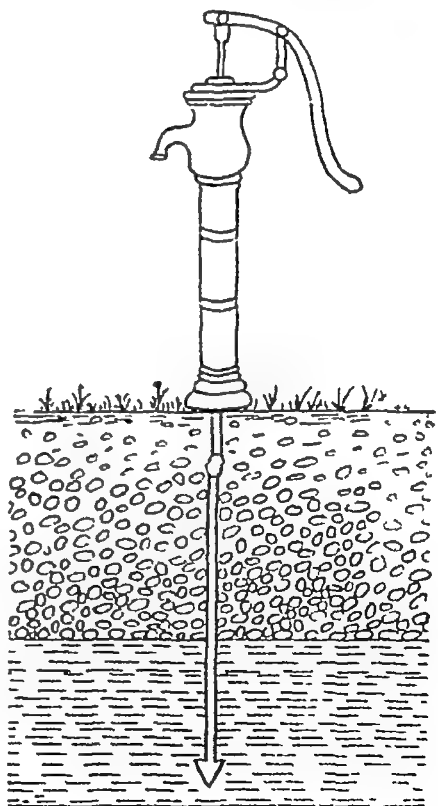
इसके अतिरिक्त कुयें के भीतर पानी की गहराई भी अधिक होना आवश्यक है। यदि पानी कम गहरा होता है तो ऐसे छिछले कुओं का पानी भी गन्दा रहता है। जब पानी निकालने को ऐसे कुयें में बर्तन डाला जाता है तभी पानी कम होने के कारण अन्दर की मिट्टी हिल कर पानी में मिल जाती है और उसे गन्दा कर देती है। पर गहरे कुयें में ऐसा नहीं होने पाता। अत जो कुआँ जमीन की सतह से काफी गहरा होता है और उसमें पानी भी गहरा होता है उसका जल सबसे अच्छा होता है।

पानी के लिये सबसे उत्तम जल ट्यूबदार कुओं (tube wells) का होता है। इसमें एक लम्बा नल (tube) पृथ्वी के भीतर इतनी गहराई तक गाड़ा जाता है कि अन्दर के पानी तक पहुँच जाय। पृथ्वी के ऊपर इसका थोड़ा सा ही भाग रहता है। इसमें एक कल लगी रहती है जिसे घुमाने से पानी नल में से होता हुआ ऊपर आ जाता है। इन कुओं के पानी में किसी प्रकार की

गन्दगी के मिलने का भय नहीं रहता और पृथ्वी के नीचे का स्वच्छ जल हमें अपने स्वाभाविक रूप में प्राप्त होता है (चित्र ४२)।

सोते या झरने का जल—हम झरनों के जल की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। पृथ्वी के नीचे का शुद्ध जल सोते या झरने के उद्‌गम स्थान पर अपने स्वाभाविक शुद्ध रूप मे होता है। इसके बाद पृथ्वी पर बहने से इसमें गन्दगी मिलने का डर रहता है। अत यदि उद्‌गम स्थान पर ही इनके जल को सुरक्षित रखने का प्रबन्ध किया जा सके तो यह पानी शुद्ध रूप में प्राप्त हो सकता है।

नलो का प्रबन्ध—बड़े-बड़े नगरों में नलों का प्रबन्ध है। समीप की किसी नदी या नहर का जल एकत्र करके उसकी शुद्धि की जाती है। तब पम्प करके नलो के द्वारा यह जल घरों मे पहुँचाया जाता है। इस प्रबध द्वारा भी स्वच्छ जल मिलता है। इस प्रकार जल शुद्ध करके नगर में पानी पहुँचाने के स्थान को वाटर वर्क्स कहते हैं। वाटर-वर्क्स में पानी शुद्ध करने की विधि सविस्तार आगे बतलाई जायगी।



चित्र ४२—ट्यूबदार कुआँ

जल की अशुद्धियाँ

हम कह चुके हैं कि पीने का पानी स्वच्छ होना चाहिये। अत अब स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि स्वच्छ पानी की पहचान क्या है और पानी में किस प्रकार की गदगी होती है। पानी में कई प्रकार की गदगी रहती है। (१) वह जो पानी

में घुल नहीं सकतीं और जो हम आँख से देख सकते हैं, जैसे मिट्टी तिनके आदि, (२) वह गन्दगी जो पानी में इतनी बारीक घुली हुई होती है कि हम उसे देख नहीं पाते हैं। नमक, चूना, कैलसियम सल्फेट (calcium sulphate), खड़िया मिट्टी मैगनीशियम सल्फेट, शोरा तथा कार्बोनिक एसिड गैस पानी में घुले रहते हैं। (३) पानी में कई प्रकार के जीवाणु भी होते हैं जिन्हें हम आँखों से देख नहीं सकते। ये अनेकों प्रकार के रोग फैलाते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देख कर हम तुरन्त पता लगा सकते हैं कि अमुक पानी में जीवाणु हैं या नहीं। ऊपर बतलाई गई कोई भी गन्दगी जिस पानी में हो वह पीने के तथा अन्य काम में नहीं लाना चाहिए।

अशुद्ध जल का प्रयोग करने से हानियाँ

अशुद्ध जल में विभिन्न रोगों के जीवाणुओं के उपस्थित रहने की सम्भावना रहती है। हैजा, मन्थर ज्वर, अतिसार व संग्रहणी आदि रोग जो किसी न किसी रूप में आमाशय व आँतों से सम्बन्ध रखते हैं पानी द्वारा ही मुख्यतः फैलते हैं। इन रोगों के जीवाणु पानी में पहुँच जाते हैं और उस गन्दे पानी का उपयोग करने वाले के शरीर में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं। किन्तु किसी रोग के जीवाणु उपस्थित न होने पर भी गन्दे पानी का उपयोग हानिप्रद होता है। उसमें उपस्थित विभिन्न प्रकार की गन्दगियाँ जीवन शक्ति को क्षीण बनाती हैं, मनुष्य की पाचन शक्ति दुर्बल रहने लगती है, सिर में दर्द, जी मिचलाना, आलस आदि होने लगते हैं। इस प्रकार कोई निश्चित रोग न होने पर भी हमारे स्वास्थ्य को कई प्रकार से गन्दा पानी हानि पहुँचाता है।

शुद्ध जल की पहचान

स्वच्छ पानी की निम्न पहचान हैं—

(१) पानी स्वच्छ, पारदर्शक चमकदार, रंगहीन, गन्धरहित तथा स्वादरहित अर्थात् न नमकीन न मीठा हो। (अधिक गहराई होने से पानी हल्का

हरा या नीला दिखलाई पड़ता है, पर वास्तव में उसमें यह रंग नहीं होता है।)

(२) पानी का धरातल चिकना या मैला न हो।

(३) दिखलाई देने योग्य गन्दगी—मिट्टी, तिनके आदि—भी न हों।

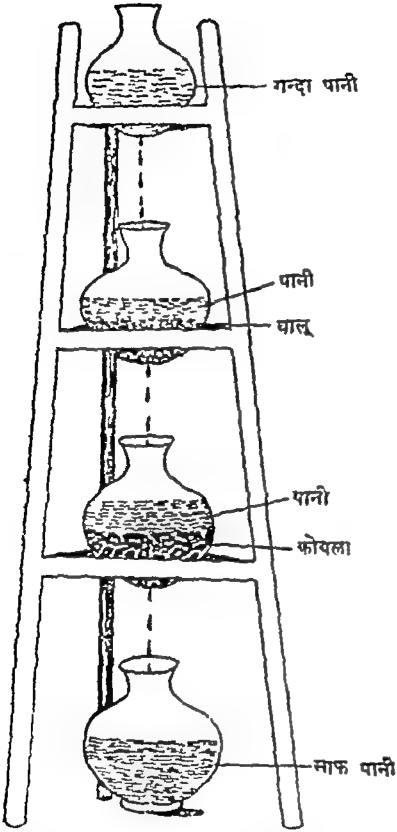
(४) जीवाणु रहित हो।

पानी शुद्ध करने की विधियाँ

पानी शुद्ध करने की तीन विधियाँ है—(१) छानना (filtration), (२) उबालना (boiling), तथा (३) स्रवण करना (distillation)।

(१) छानना—प्रायः लोग गन्दे पानी को कपड़े से छान कर ही संतुष्ट हो जाते हैं पर वास्तव में यह ठीक नहीं है। इस प्रकार छानने से पानी की मोटी अनघुल गन्दगी—तिनके व कूड़ा-कचरा—तो निकल जाती हैं पर उसमें मिली हुई महीन मिट्टी व जीवाणु आदि नहीं निकल पाते। अतः छानने की यह विधि ठीक नहीं है। छन्ना कागज (filter paper) से छानना अधिक अच्छा होता है। एक छन्ना कागज लेकर चौहरा करके कीप के आकार का बनाया जाता है। इसे कॉच की कीप मे रखकर इसमें से पानी छाना जाता है। इस प्रकार छना हुआ पानी अनघुल गन्दगी से रहित होता है। किन्तु इस प्रकार पानी बहुत धीरे-धीरे छनता है। अतः बहुत अधिक पानी छानने के लिए यह विधि काम में नहीं लाई जा सकती। जीवाणु इसमें से छनकर भी चले जाते हैं।

छानने की भारतीय घरेलू विधि अत्यन्त सरल है। इसमें एक ऊँची घिनौंची होती है जिसमे चार घडो के रखने के लिए प्रबन्ध होता है। चित्र ४२ से इनकी स्थिति का ज्ञान हो जायगा। ऊपर के तीन घड़ों की पेंदी मे छिद्र होता है। सबसे ऊपर के घड़े मे गन्दा पानी भरा रहता है, उसके नीचे के घड़े में बालू और

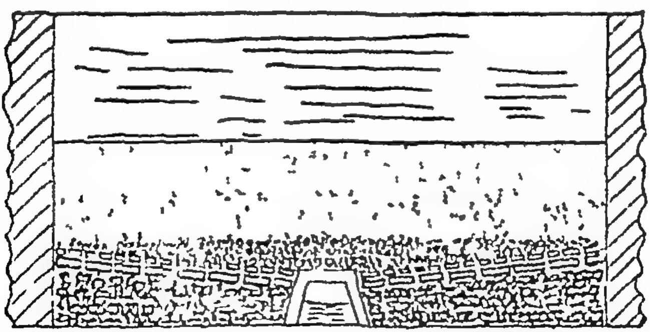


तीसरे घड़े में कोयला रहता है। बालू और कोयला घड़े में आधी दूर तक ही भरा जाता है। सबसे नीचे का घड़ा खाली रहता है। ऊपर के घड़े से एक एक बूँद करके पानी दूसरे घड़े में गिरता है। इसमें भरी हुई बालू से छनता हुआ पानी फिर एक एक बूँद करके कोयले वाले घड़े में पहुँचता है। यहाँ कोयले से छनता हुआ पानी एक एक बूँद करके नीचे के घड़े में एकत्र होता है। यह जल स्वच्छ और स्वास्थ्योपयोगी होता है। घड़ों की सफाई तथा समय समय पर कोयले और बालू को बदलने का ध्यान रखने से इस विधि द्वारा स्वच्छ पानी सरलता से प्राप्त हो जाता है। इस विधि में अधिक समय नहीं लगता। अत घरों में इसका उपयोग सुविधापूर्वक हो सकता है।

चित्र ४२—घड़ों द्वारा पानी छानना

इसके अतिरिक्त घरों में पानी छानने के लिए चीनी मिट्टी (porcelain) की बनी विदेशी कलें भी आती हैं इनमें पानी जल्दी छनता है और पूर्णत: स्वच्छ भी हो जाता है। इनमें ` चैम्बरलैंड (Pasteur Chamberland) तथा बर्कफील्ड Berkefield) छन्ने (filter) अधिक प्रचलित हैं।

उक्त विधि से तो हम थोड़ी मात्रा में पानी साफ कर सकते हैं किन्तु जब अधिक मात्रा मे पानी की सफाई करने की आवश्यकता पड़ती है तब इन विधियों से काम नहीं चल सकता है। नगर के वाटर वर्क्स में नगर भर के लिए पानी की सफाई करने का काम होता है। इसीलिए वाटरवर्क्स (water works) में पानी छानने के लिए भिन्न विधि प्रयोग मे आती हैं। यहाँ दो भिन्न प्रकार के तालाब बनाये जाते हैं। किसी नदी या नहर आदि का पानी लाकर पहले एक पक्के साधारण तालाब में एकत्र किया जाता है। इसमें पानी को स्थिर रखा जाता है जिसमें उसकी मिट्टी, कूड़ा करकट आदि नीचे बैठ जाय। यहाँ पानी में थोड़ी फिटकरी भी घोल दी जाती है। फिटकरी मिलने से पानी की अनघुल गन्दगी अधिक शीघ्र नीचे बैठती है। इस प्रकार पानी की अनघुल गन्दगी काफी निकल जाती है। वहाँ से पानी एक दूसरे पक्के तालाब में जाता है। इस तालाब की बनावट निम्न प्रकार की होती है। तालाब की तली में पानी एकत्र होकर तुरन्त बह जाने के लिए नालियाँ बनी रहती हैं। इनके ऊपर रध्रमय (porous) ईंटे रखी रहती हैं। ईंटों की तह के ऊपर बजरी (पत्थरों के छोटे छोटे टुकड़े) की तह होती है और उसके ऊपर बालू की। बालू की पर्त २ फीट से ३ फीट तक



चित्र ४४—छन्ना तालाब

होती है। इसमें नीचे की बालू मोटी और ऊपर की खूब महीन होती है। पहले तालाब का पानी अब इस तालाब में पहुँचता है। यहाँ पानी बालू

कंकड़ों या ईंटों की तहों से छनता हुआ नीचे नालियों में एकत्र होता है। बालू की तह से पानी बहुत धीरे छनता है। अनघुल महीन गन्दगी के अतिरिक्त बालू के महीन कण बहुत से जीवाणुओं को भी रोक लेते हैं और इस प्रकार पानी काफी साफ हो जाता है। बालू की तह के ऊपर गन्दगी की पर्त काई के रूप में जम जाती है। अतः लगभग दो माह बाद बालू की थोड़ी सी पर्त हटा कर नई पर्त बिछाई जाती है। इस तालाब में पानी बहुत ही धीरे छनता है। इसी से यह धीरे छानने वाला तालाब (slow filter tank) कहलाता है। यहाँ छानने के बाद पानी एक पक्के बन्द तालाब में एकत्र किया जाता है। वहाँ से पम्प द्वारा ऊँचाई पर बनी हुई टंकी में एकत्र किया जाता है जहाँ से समस्त शहर के नलों में पहुँचता है।

धीरे धीरे से छानने से पानी बिल्कुल शुद्ध हो जाता है किन्तु इसमें बहुत देर लगती है। अतः जनसंख्या के अनुसार इस प्रकार के बड़े तालाब बनवाने पड़ते हैं। अधिक पानी की आवश्यकता को पूरा करने के लिये दूसरे प्रकार के छन्ने तालाब भी बनाये जाते हैं। इनमें पानी शीघ्रता से छनता है। इसीसे ये शीघ्रता से छानने वाले तालाब (rapid filter tanks) कहे जाते हैं। इस विधि से छानने में भी पहले साधारण तालाबों में पानी एकत्रित किया जाता है। वहाँ स्थिर रहने से पानी की अनघुल गन्दगी बैठ जाती है। शीघ्रता से छानने वाले तालाबों में मोटी बालू और कंकड़ की पर्त रहती है। पानी शीघ्रता से छनने के कारण इसके जीवाणु नहीं निकल पाते हैं। अतः जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए इस पानी में क्लोरीन गैस मिलाई जाती है। क्लोरीन मिलाने के बाद पानी को एक ऊँची टंकी में एकत्रित करके पम्प द्वारा सब स्थानों पर भेजा जाता है। शेष सब प्रबन्ध ऊपर बतलाये अनुसार होता है।

(२) उबालना—उबालने से पानी के सब जीवाणु मर जाते हैं। स्वच्छ बर्तन में पानी को भली प्रकार उबाल कर दूसरे स्वच्छ बर्तन में छान लेना चाहिए। फिर इसे ठंडा करके ढाँक कर रख लेना चाहिए। जिस पानी में जीवाणुओं के होने का सन्देह हो उसे पीने के पहले अवश्य उबाल कर ठंडा कर

लेना चाहिए। उबाल कर पानी थोड़ी मात्रा मे अपने अपने घरों में हम व्यक्तिगत रूप से ही साफ कर सकते हैं। अधिक मात्रा में पानी को जीवाणु रहित करने के लिए क्लोरीन, पोटैसियम परमैंगनेट आदि का मिलाना ही सर्वोत्तम साधन है।

भभके से पानी का स्रवण—भभके के द्वारा एकत्र किया गया शुद्ध जल सब प्रकार की गन्दगी से रहित होता है। इस विधि में पानी को एक बर्तन में उबालते हैं जिससे पानी भाप में बदल जाता है। यह भाप एक नली द्वारा दूसरे बर्तन में पहुँचा कर ठढी कर ली जाती है जिससे यह फिर पानी में बदल जाती है। पानी की सारी गन्दगी उबालने के बर्तन में ही रह जाती है। स्रवित पानी में घुली या अनघुल कोई भी गन्दगी नहीं रहती। पृथ्वी की सतह पर गिरने से पूर्व ही एकत्र किया गया वर्षा का जल भी स्रवित जल की भाति शुद्ध होता है। भभके से तैयार किया गया पानी दवाओं आदि के काम में आता है। पीने से इसमें कोई स्वाद नहीं मालूम होता। इस विधि से पानी साफ करने में बहुत समय लगता है, इसीलिए इस विधि से घरों में पानी स्वच्छ नही किया जाता।

प्रश्न

(१) जल की मनुष्य जावन में क्या उपयोगिता है? यह हमें कैमे प्राप्त होता हैं?

(२) शुद्ध और अशुद्ध जल में क्या अन्तर है? अशुद्ध जल को शुद्ध कैमे किया जा मकता है?

(३) कच्चे और पक्के कुयें में क्या अन्तर है? आप किस प्रकार के कुयें का पानी पमन्द करेंगे?

(४) वाटरवर्क्स में पानी शुद्ध करने की विधि ममझाइये?

(५) धीमी गति मे छानने वाले और शीघ्रता से छानने वाले तालावों में क्या अन्तर है?

(६) छिछले तथा गहरे कुयें क्या हैं? माधारण छिछला कुआँ किम प्रकार अच्छा बनाया जा सकता है (हाईस्कूल परीक्षा १९४९)

(७) (क) छोटे पैमाने पर और (ख) बड़े पैमाने पर तुम जल कैसे शुद्ध करोगे ? (हाईस्कूल परीक्षा, १९५१)

(८) जलप्राप्ति के स्थानों (Sources of water) तथा साधनों का वर्णन करो। इनके अपने अपने क्या महत्व है ? जल किस प्रकार दूषित (contaminated) हो जाता है तथा उसको दूषित होने से किस प्रकार बचाया जा सकता है ? जल को स्वच्छ करने (purification) के लिये भिन्न-भिन्न साधनों का वर्णन करो।

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

(९) स्वच्छ पानी की क्या पहचान है ? एक मनुष्य के लिए दिन में कितने पानी की आवश्यकता होती है तथा यह स्वच्छ पानी उसे कहाँ कहाँ से प्राप्त हो सकता है ?

(हाई स्कूल परीक्षा १९५३)

ग्यारहवाँ अध्याय

भोजन (१)

मनुष्य जीवन की आवश्यकताओं में वायु और जल की भाँति भोजन का भी प्रमुख स्थान है। बिना भोजन के जीवित रहना असम्भव है।

जीवित अवस्था में हमारा शरीर सदा कुछ न कुछ काम किया करता है। गहरी नींद में भी हमारे शरीर के तन्तुओं को एकदम शान्ति नहीं मिलती। उस समय नींद में भी हमारे शरीर के भीतर हृदय रक्त को रक्त-नलियों में बराबर पम्प करता रहता है, फेफड़े श्वास क्रिया करते रहते हैं, आदि। जाग्रत अवस्था में तो हमारा शरीर और भी अधिक क्रियाशील रहता है।

प्रत्येक प्रकार का काम करने के लिये शक्ति की आवश्यकता होती है। हमारे शरीर को कार्य करने के लिए शक्ति कहाँ से प्राप्त होती है? इसी प्रकार हमारे शरीर से कुछ ताप सदा बाहर निकलता रहता है। इस ताप की पूर्ति होना भी आवश्यक होता है।

हम यह भी देखते हैं कि यदि हम किसी स्वस्थ बालक को समय-समय पर तौल लेते रहें तो उसकी तौल में बराबर वृद्धि होती हुई पायेंगे। यह तौल क्यों बढ़ती है?

रेल के इंजन से आप सब परिचित हैं। इंजन को कोयले के रूप में ईंधन दिया जाता है जो जल कर ताप के रूप में शक्ति उत्पन्न करता है। यदि इंजन को ईंधन न मिले तो क्या वह चल सकता है? हमारे शरीर में भोजन कुछ अंश में वही काम करता है। पचने के बाद भोजन रक्त में पहुँचता है और श्वास द्वारा वहाँ पहुँची वायु की आक्सिजन में धीमी गति से जल कर ताप

उत्पन्न करता है। यही ताप हमारे शरीर के अवयवों को कार्य करने की शक्ति देता है और शरीर के तापक्रम को एक सा रखता है।

भोजन का कुछ भाग तो ईंधन की भाँति जल कर ताप के रूप में शक्ति उत्पन्न करता है और कुछ भाग शरीर के तन्तुओं को बनाने व उनकी वृद्धि करने में काम आता है।

शरीर के तन्तुओं में बराबर टूट-फूट भी होती रहती है। भोजन शरीर के पुराने तन्तुओं के स्थान में नये तन्तु बनाने व टूटे हुओं की मरम्मत करने का भी काम करता है।

इस प्रकार भोजन हमारे शरीर में निम्न कार्य करता है —

(१) यह शरीर में ईंधन की तरह जल कर ताप उत्पन्न करता है। यह ताप शरीर की गर्मी को एक सा बनाये रखता है और शरीर को काम करने के लिये शक्ति देता है।

(२) यह शरीर के तन्तुओं को बनाने व वृद्धि करने का काय करता है।

(३) यह टूटे हुये तन्तुओं की मरम्मत करता है और पुराने नष्ट हुये तन्तुओं के स्थानों में नये तन्तु बनाता है।

(४) ऊपर के कार्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे पदार्थों की भी हम भोजन में थोड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है जो शरीर की रोगों से रक्षा करते हैं और उसे स्वस्थ रखते हैं। खनिज पदार्थ और विटामिन ऐसे ही आवश्यक तत्व हैं और हमें भोजन द्वारा प्राप्त होते हैं।

(५) भोजन का स्वास्थ्य से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। भोजन से हमारे शरीर को पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं। भोजन की मात्रा पर्याप्त न होने से अथवा भोजन अच्छा और स्वास्थ्यप्रद न होने से स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रहने पाता। अच्छे और स्वास्थ्यप्रद भोजन से हमारा तात्पर्य बहुत घी, मसाले वाले चटपटे भोजन या अंगूर, अनार आदि मँहगे फलों से नहीं है। ये वस्तुयें तो धनी लोग ही खा सकते हैं। बहुत घी व मसाले का भोजन स्वास्थ्यवर्द्धक भी नहीं होता

यही कारण है कि धनी लोग अधिकतर अस्वस्थ रहते हैं। गरीबों की बीमारी का मुख्य कारण उनका भोजन नहीं वरन् उनकी अशिक्षा तथा गन्दगी है। गरीबो का भोजन अमीरों की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यकर होता है। यदि विभिन्न खाद्य सामग्रियो की स्वास्थ्य के लिए उपयोगिता उन्हें मालूम हो जाय तो वे अपने भोजन को कम खर्च मे और अधिक स्वास्थ्योपयोगी बना सकते हैं।

अत यह आवश्यक है कि स्वस्थ रहने के लिए हमें उचित प्रकार का और उचित मात्रा में भोजन मिलता रहे।

भोजन के तत्व

हमारा शरीर विभिन्न तत्वों से मिलकर बना है। इन तत्वों में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, आक्सिजन, लोहा, कैलसियम और फासफोरस मुख्य हैं। अत हमारा भोजन ऐसा होना चाहिए जिसमें ये सब तत्त्व उपस्थित हों।

भोजन मुख्यत दो प्रकार का होता है—शाकाहारी और मासाहारी। दोनों ही प्रकार के भोजन के मुख्य पदार्थ ये हैं—(१) प्रोटीन, (२) वसा या चर्बी, (३) कार्बोहाइड्रेट, (४) विटामिन, (५) खनिज लवण तथा (६) जल।

प्रत्येक प्राकृतिक भोजन में ये सभी पदार्थ कुछ न कुछ मात्रा मे उपस्थित रहते हैं किन्तु किसी भोजन में किसी पदार्थ की अधिकता रहती है और किसी दूसरे मे किसी दूसरे पदार्थ की। साधारणत प्रथम तीन की तथा पानी की हमें अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है।

मसाले, अचार-चटनी, कहवा व चाय आदि भी खाद्य सामग्रियों के अन्तर्गत ही आते हैं।

प्रोटीन—प्रोटीन प्रधानतया कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन और नाइट्रोजन (तथा प्राय गन्धक और फासफोरस) तत्त्वो के सम्मिलन से बना एक सकीर्ण पदार्थ है। यह वनस्पति-जगत तथा जन्तु-जगत दोनों से ही प्राप्त भोजन पदार्थों में रहता है। दाल, मटर, चना, सेम, सोयाबीन, दूध, अडा व मास आदि में प्रोटीन खूब

रहती है। दूध, मास और अडे की प्रोटीन अनाजों की प्रोटीन से भिन्न होती है। यह जन्तु शरीर से प्राप्त होने के कारण हमारे शरीर की प्रोटीन से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसीलिए जन्तु-प्रोटीन अनाजों की प्रोटीन की अपेक्षा मनुष्य शरीर के लिए अधिक अच्छी होती है। यह शीघ्र ही पच कर हमारे रुधिर में मिल जाती है।

हमारे शरीर के लिए प्रोटीन सबसे अधिक महत्व का पदार्थ है। जीव सेलों के प्रोटोप्लाज्म का यह मुख्य अंश है। पाचनक्रिया में पाचक-रसों के प्रभाव से यह पहले तो पेपटोन मे परिवर्तित होती है और फिर एमीनो एसिड मे। पेपटोन व एमीनो एसिड के रूप में परिवर्तित होने पर ही हमारा रुधिर उसे अपने में सोख पाता है। इन एमीनो एसिड से ही हमारे तन्तुओं की क्षय हुई प्रोटीन की पूर्ति होती है। शरीर में प्रोटीन बनाने के अतिरिक्त पाचक-रसों तथा अन्य ग्रन्थियों के रसों के बनने तथा शरीर मे गर्मी और कार्यशक्ति होने में भी इस भोजन से सहायता मिलती है। प्रोटीन में ही नाइट्रोजन रहता है, अत शरीर के पदार्थों की वृद्धि भी इसी के द्वारा होती है। इस प्रकार प्रोटीन का मुख्य काम विभिन्न क्षय हुए तन्तुओं की मरम्मत करना और नये तन्तु बनाना तथा उनकी वृद्धि करना है।

प्रोटीन का अधिक मात्रा में उपयोग स्वास्थ्य के लिये हानिकर होता है। भोजन में प्रोटीन की मात्रा अधिक होने से यह शरीर मे एकत्र होने लगती है और इससे यकृत तथा गुर्दों के रोग हो जाते हैं।

चर्बी—चर्बी में केवल कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन तत्व ही होते हैं। चर्बी भी शाकाहारी व मासाहारी दोनों प्रकार के भोजन में होती है। मछली का तेल, जानवरों की चर्बियाँ, घी, वनस्पति तेल आदि चर्बी के कुछ उदाहरण हैं। यह दूध, घी, मक्खन, बादाम, अखरोट आदि सूखे फलों, तरकारियों, फलों के बीजों आदि में भी पाई जाती है। मास आदि से प्राप्त चर्बी अपेक्षाकृत सरलता से पचती है। किसी भी रूप में भोजन में चर्बी का अधिक होना ठीक

नहीं है। अधिक चर्बी पचती नहीं है। अतः हमारे मलाशय पर काम का बोझ अत्यधिक पड़ जाता है।

चर्बी का विशेष उपयोग हमारे शरीर के तन्तुओं की क्षय हुई चर्बी की पूर्ति करना, आवश्यकतानुसार नई चर्बी बनाना, तथा शरीर में गर्मी व शक्ति उत्पन्न करना है। पाचनक्रिया के समय छोटी आँतों में पहुँचने पर पित्त व क्लोमरस के प्रभाव से चर्बी पचकर हमारे रुधिर में मिल जाती है। गर्मी प्रदान करने के गुण के कारण ही अधिक ठंढे देशों में इसका विशेषरूप से अधिक मात्रा में उपयोग होता है। पचने के बाद जब यह रक्त में पहुँच जाती है तब फिर इसके अलग हुए कण परस्पर मिल कर चर्बी के रूप में बदल जाते हैं। इसमें से शक्ति उत्पन्न करने के बाद बची हुई कुछ चर्बी हमारे शरीर में त्वचा के नीचे तथा गुर्दों के चारों ओर के स्थानों पर एकत्रित होने लगती है। यह संग्रहीत भोजन का सबसे अच्छा रूप है। कभी भोजन न करने पर यही चर्बी काम में आती है। इसकी मात्रा अधिक होने से शरीर स्थूल हो जाता है।

कार्बोहाइड्रेट—चर्बियों की भाँति ये भी केवल कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन के मेल से बने पदार्थ हैं। ये अधिकतर स्टार्च और चीनी के रूप में पाये जाते हैं। कार्बोहाइड्रेट मुख्यतः शाकाहारी भोजन में ही पाये जाते हैं। गेहूँ, चावल, जौ, आलू, अरुई शकरकन्द आदि में स्टार्च की मात्रा खूब होती है। गन्ने के रस तथा मीठे फलों में चीनी की मात्रा अधिक होती है। इसीसे ये कार्बोहाइड्रेट वाली चीजें कहलाती हैं। लार और क्लोम-रस के प्रभाव से स्टार्च पाचन योग्य चीनी (ग्लूकोज) के रूप में बदल जाता है और तब हमारी रुधिर केशिकायें उसे अपने में सोख लेती हैं। कार्बोहाइड्रेट हमारे शरीर में गर्मी के रूप में शक्ति उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त ये शरीर के अंतःस्रावों—शरीर की नलीहीन ग्रन्थियों के स्रावों—में भी सहायक होते हैं।

हमारे शरीर के मांस, रक्त तथा अन्य तन्तुओं में नाइट्रोजन विद्यमान है। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं हमारे भोजन पदार्थों में केवल प्रोटीन ही नाइट्रोजन

वाले पदार्थ हैं। कार्बोहाइड्रेट तथा चर्बी में नाइट्रोजन नहीं रहता। अतः केवल प्रोटीन ही शरीर के तन्तुओं को बनाने तथा वृद्धि करने के काम में आती है, चर्बी और कार्बोहाइड्रेट शरीर के कार्य करने के लिए केवल ऊष्मा के रूप में शक्ति ही पैदा करते हैं।

विटामिन—सन् १५९३ में अंग्रेज नाविक सर रिचर्ड हाकिन्स ने यह देखा कि नाविकों को स्कर्वी रोग बहुत होता है और साथ ही उसने यह भी ज्ञात किया कि यह रोग सतरे के उपयोग से बहुत जल्दी अच्छा हो जाता है। इसी अनुभव के आधार पर लोगों ने यह परिणाम निकाला कि संतरे में कोई ऐसा पदार्थ है जो स्कर्वी रोग को अच्छा करने की शक्ति रखता है। सतरे के इस अज्ञात पदार्थ का ही नाम विटामिन रखा गया।

भोजन पदार्थ में विटामिन इतनी कम मात्रा में पाये जाते हैं कि उनका शुद्ध रूप में अलग किया जाना बहुत काल तक सम्भव न हो सका और इसीसे उनके रासायनिक रूप का ज्ञान न हो सका। अब तो खोजों के आधार पर अनेक विटामिन ज्ञात हो चुके हैं और उनके रासायनिक रूपों का भी निरूपण हो चुका है।

विटामिन खाद्य पदार्थों में पाये जाने वाले संकीर्ण रासायनिक पदार्थ हैं। इनका स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए भोजन में विटामिन की पर्याप्त मात्रा का होना अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न विटामिन की कमी से विभिन्न रोग हो जाते हैं। शाकाहारी भोजन में विटामिनों की बहुलता रहती है, पर मासाहारी भोजन में भी ये काफी मात्रा में पाये जाते हैं।

विटामिन कई प्रकार के माने गये हैं। इनमें **विटामिन** ए, **विटामिन** बी, **विटामिन सी**, **विटामिन** डी तथा **विटामिन** ई मुख्य और अधिक महत्व के हैं। ये पाँचों ही स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। शरीर के लिए इनकी उपयोगिता अलग-अलग होती है। कुछ वस्तुओं में केवल एक ही प्रकार का

विटामिन और कुछ में दो तीन प्रकार के विटामिन पाये जाते हैं। ये विटामिन थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं पर फिर भी मनुष्य के शरीर पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं। थोड़े दिन भी यदि मनुष्य विटामिन रहित भोजन करे तो तुरन्त उसके स्वास्थ्य में अन्तर ज्ञात होने लगेगा। इसी से आधुनिक युग में विटामिन भोजन के सब से महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं।

विटामिन मुख्य रूप से फलों, हरी तरकारियों, दूध तथा अन्य प्राकृतिक भोजन पदार्थों में पाये जाते हैं। इनकी थोड़ी मात्रा ही स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है और ये सदा इन्हीं थोड़ी मात्राओं में ही भोजन पदार्थों में पाये जाते हैं। तरकारियों और फलों में ये छिलकों के नीचे अधिक रहते हैं। जो भोजन खूब ऊँचे तापक्रम पर पकाया जाता है या जिसे खूब साफ किया जाता है उसके विटामिन बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं या कम हो जाते हैं। चोकर निकाले हुए आटे तथा पालिश किए हुए चावल के अधिक विटामिन चोकर और चावल की छीलन में ही निकल जाते हैं।

विटामिन ए—शरीर की वृद्धि के लिए विटामिन ए का सेवन करना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर के बढ़ने में सहायता देने के कारण यह बालकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आँखों के रोगों तथा कई अन्य छूत से लगने वाले रोगों से बचने की शक्ति भी विटामिन ए के सेवन से शरीर में आती है। आँख के कठिन रोग तो प्रायः सदा ही विटामिन ए की कमी से होते हैं। हमारे भोजन में इसकी कमी होने से शरीर की वृद्धि रुक जाती है, आँखों में सूजन आ जाती है और देखने की शक्ति घट जाती है।

यह विटामिन दूध, मक्खन, अंडे और हरी तरकारियों में अधिकता से मिलता है। गाजर, गोभी, पालक आदि में भी थोड़ी मात्रा मे यह विटामिन पाया जाता है।

विटामिन बी—विटामिन बी कई प्रकार का होता है जिनमें विटामिन बी$_1$ तथा विटामिन बी$_2$ मुख्य हैं। विटामिन बी$_1$ शरीर के बढ़ने तथा स्वास्थ्य ठीक रखने में सहायता पहुँचाता है। यह शाकाहारी भोजन में ही अधिकता से मिलता

है। जड़, पत्ती, फल व बीज, वृक्ष के इन सभी भागों में यह विटामिन पाया जाता है। अनाजों में यह विटामिन प्रायः उनके ऊपरी पर्त में एकत्रित रहता है। मशीनों द्वारा अनाजों की सफाई करने से यह पर्त अलग हो जाती है और इस प्रकार ऐसे अनाज विटामिन बी$_1$ से रहित हो जाते हैं। अत जहाँ तक हो सके ऐसे अनाजों से बचना चाहिये। यही कारण है कि हाथ से साफ किया गया चावल मिलों में साफ किये गये चावल की अपेक्षा अधिक पुष्टिकारक माना जाता है। मिलों का साफ किया गया चावल अधिक मात्रा में सेवन करने से बेरी-बेरी* रोग प्राय हो जाता है। इसी से चावल का अधिक उपयोग करने वाली जातियों में ही यह रोग अधिक पाया जाता है। गेहूँ, जौ, राई, चावल, दाल, अंडे, दूध, हरी तरकारियों तथा खमीर में यह विटामिन अधिक मात्रा में पाया जाता है।

विटामिन बी$_2$ भी शरीर में अधिक मात्रा में रहता है। दूध, अंडे और हरे सागों में यह थोड़ी मात्रा में रहता है। खमीर में बहुत रहता है। इसकी कमी होने से शरीर के तन्तुओं को ठीक से हवा नहीं मिल पाती और फलस्वरूप त्वचा के विभिन्न रोग हो जाते हैं। बदन में सूजन आ जाती है, ओठों पर पपड़ी जमने लगती है और मुँह के किनारे फटने लगते हैं। मनुष्य में बुढ़ापा जल्दी आ जाता है।

विटामिन बी पानी में घुलनशील है। यदि कोई चीज उबाल कर उसका पानी फेंक दिया जाय तो उसका विटामिन भी नष्ट हो जाता है।

विटामिन सी—यह विटामिन अधिकतर रसीले फलों—जैसे नारंगी, नीबू और टमाटर—में पाया जाता है। पत्तागोभी (करमकल्ला), फूलगोभी, गाजर,

*बेरी-बेरी में अधिकतर हाथ और पैरों में सूजन आ जाती है। घुटनों के सूजने के कारण पैर मोड़ने में व चलने में कष्ट होता है। प्राय सूजे अंगों में पानी भी भर जाता है। नाड़ियाँ शिथिल पड़ जाने के कारण सूजे अंगों की चेतनाशक्ति भी कम हो जाती है। थोड़ा भी चलने में साँस फूलने लगती है। हृदय कमजोर हो जाता है।

मूली, प्याज, आलू आदि तरकारियों तथा थोड़ी मात्रा में दूध और ताजे मास में भी यह पाया जाता है। आँवले में यह विटामिन प्रचुर मात्रा मे होता है। दालों व अनाजों में तो यह विटामिन नहीं होता किन्तु भीगने के बाद जब उनमें अकुर फूटने लगते हैं तब उनमें यह विटामिन काफी पाया जाता है। अधिक देर तक गर्म करने से यह विटामिन नष्ट हो जाता है। यह विटामिन पानी में घुलनशील भी है। अतः किसी वस्तु को पकाने से उसके पानी में मिल जाता है। पानी यदि फेंक दिया जाय तो उस वस्तु का सब विटामिन भी साथ में चला जाता है। यह विटामिन स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसकी कमी से तुरन्त शरीर में दुर्बलता अनुभव होने लगती है। इस विटामिन के अभाव से स्कर्वी* (scurvy) और गठिया रोग हो जाते हैं।

विटामिन डी—जिन पदार्थों में विटामिन ए पाया जाता है, प्रायः उन सब में ही विटामिन डी पाया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि यह विटामिन गर्म करने से विटामिन ए और सी की भाँति नष्ट नहीं होता। विटामिन डी हमारी हड्डियों और दाँतों को स्वस्थ व दृढ़ बनाता है क्योंकि यह शरीर में कैल-सियम और फासफोरस को एकत्र करने में सहायता पहुँचता हैं। यह कार्ड तथा अन्य मछलियों के तेल, दूध, क्रीम, मक्खन, अडे तथा ताजे फलों में अधिकता से पाया जाता है। सूर्य की अलट्रा-वायलेट (ultra-violet) किरणों में भी विटामिन डी का सा प्रभाव रहता है। इस विटामिन की कमी से दाँत खराब हो जाते हैं और रिकेट्स† (rickets) का रोग हो जाता है। यह रोग बच्चों को अधिक होता है।

विटामिन ई—यह अनाजों के बीजों तथा हरी तरकारियों और विशेष कर

---

*स्कर्वी अधिकतर जहाज के मल्लाहों को होता है क्योंकि उन्हें ताजे फल खाने को नहीं मिलते। इस रोग में संधियों में शिथिलता आ जाती है, मसूड़े पोले पड़ जाते हैं और दाँत ढीले पड़ कर हिलने लगते है। रोग बढ़ने पर त्वचा के नीचे रक्त-स्राव होने लगता है।

† इस रोग में हड्डियाँ मुलायम पड़ जाती हैं। फलस्वरूप वे स्थान स्थान पर मुड़ जाती हैं जिससे अंग कुरूप हो जाते हैं।

प्याज में अधिकता से होता है और उत्पादन शक्ति बढ़ाने में सहायक होता है। गर्म करने से यह जल्दी नष्ट नहीं होता।

खनिज लवण—हमारे शरीर में निम्न धातुओं के लवण मुख्यरूप से पाये जाते हैं—सोडियम, कैलसियम, पोटैसियम, मैगनीसियम और लोहा। ये शरीर के नये तन्तुओं को बनाने और पुरानों की क्षति को पूरा करने तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। हड्डियों व दाँतों के बनाने में कैलसियम और फासफोरस की आवश्यकता होती है। हड्डियों व दाँतों का कड़ापन व मजबूती कैलसियम फासफेट के कारण रहता है। रुधिर के लिए लोहा जरूरी है क्योंकि रक्त के लाल रंग—हीमोग्लाबिन—को बनाने के लिए लोहा आवश्यक है पसीने व मूत्र के रूप में शरीर का सोडियम क्लोराइड बाहर निकलता रहता है इसकी पूर्ति हमारे भोजन के साधारण नमक द्वारा होती है। शरीर के अंत स्त्रावं के बनने में भी इनसे सहायता मिलती है।

भोजन में लवणों की कमी से हमें विभिन्न रोग हो जाते हैं। लोहे की कमी से शरीर में पीलापन आ जाता है कैलसियम की कमी से हड्डी व दाँ कमजोर हो जाते हैं, आयोडीन की कमी से घेंघा नामक रोग ह जाता है।

हमारी आवश्यकता के लिये लवणों की थोड़ी मात्रा ही पर्याप्त है। हम र भोजन पदार्थ खाते हैं उनमें विभिन्न लवणों की आवश्यक मात्रा सदा उपस्थि रहती है। विशेष कर फलों व तरकारियों में लवण काफी रहते हैं। गेहूँ जलाने के बाद जो राख बचती है वही गेहूँ का खनिज पदार्थ है। दूध, अ दाल, मांस, मछली, फल और हरी तरकारियों में कैलसियम और फासफोरस पर्याप्त मात्रा रहती है। हरे साग-पात में लोहा अधिक रहता है।

पानी—हमारे शरीर में लगभग ५६ प्रतिशत पानी है। हम प्रतिदि पसीने तथा मल-मूत्र के साथ पर्याप्त पानी बाहर निकालते हैं। हमारे शरीर भीतर सभी रस तथा रक्त भी तरल रूप में हैं। पाचन-क्रिया तथा शरीर की अ

क्रियायें भी तरल अवस्था में होती हैं। अत शरीर को पानी की काफी मात्रा में आवश्यकता होती है। भोजन के साथ जितना पानी हम प्रतिदिन लेते हैं और जितना पानी अलग से पीते हैं, वह सब मिल कर प्रतिदिन के हमारे भोजन के ठोस भाग का तीन गुणा होता है।

शरीर में पानी का मुख्य कार्य प्रत्येक तन्तु की आवश्यकता की वस्तु को अपने में घुलाकर उस तन्तु तक पहुँचाना और उस तन्तु में उत्पन्न हुए मल पदार्थ को अपने में घुलाकर उस तन्तु से बाहर निकाल लाना है। इस प्रकार पानी की सहायता से ही शरीर के प्रत्येक भाग को भोजन मिलता है तथा प्रत्येक भाग के मल पदार्थ की सफ़ाई होती है।

जल की स्वच्छता आदि के सम्बन्ध मे हम पहले ही बतला चुके हैं। यहाँ हम फिर याद दिला देना चाहते हैं कि पीने का जल शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए।

सन्तुलित भोजन (balanced diet)

भोजन के सब तत्वों के सम्बन्ध में जान लेने के बाद यह आवश्यक है कि हम इस ज्ञान का उपयोग अपने प्रतिदिन के भोजन को स्वास्थ्यकर बनाने में करें। यदि हम भोजन के विभिन्न तत्वों का सेवन उचित मात्रा में नहीं करेंगे तो हमारा भोजन स्वास्थ्यकर सिद्ध नहीं होगा। 'हमारा भोजन ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रोटीन, चर्बी, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन व खनिज पदार्थों की उचित मात्रायें हों। किसी एक की भी अधिकता होने से भोजन अपाच्य हो जाता है और साथ ही रोगों को भी उत्पन्न करता है। यदि हम केवल प्रोटीनयुक्त भोजन करें तो हमारे शरीर मे चर्बी, कार्बोहाइड्रेट आदि की कमी हो जायगी। जिस भोजन में उसके सब तत्व उचित मात्रा में रहते हैं वह सन्तुलित भोजन कहलाता है। भोजन-विशेषज्ञों ने अपनी खोजों से सिद्ध किया है कि एक औसत मनुष्य के लिए १०० ग्राम प्रोटीन, १०० ग्राम चर्बी, तथा ५०० ग्राम कार्बोहाइ-

ग्रेट की प्रतिदिन आवश्यकता होती है। अवस्था, स्वास्थ्य कार्य तथा ऋतु के अनुसार इस मात्रा में अन्तर होना स्वाभाविक है। रोगी मनुष्य और स्वस्थ मनुष्य के भोजन में, पाँच वर्ष के बालक और २०–२५ वर्ष के युवक के भोजन में, स्त्री और पुरुष के भोजन में तथा दिन भर बैठकर पढ़ने लिखने अथवा दूकानदारी करने वाले और सड़क पर पत्थर तोड़ने अथवा बोझा ढोने वाले मजदूर के भोजन में बहुत अन्तर होता है। जलवायु के प्रभाव से भोजन के प्रकार में अन्तर पड़ जाता है। ठंडे देश वालों को अधिक ताप उत्पन्न करने वाला भोजन, वसा, अधिक मात्रा में चाहिये। गर्म देशों में वसा का अधिक प्रयोग हानिकारक सिद्ध होता है।

साधारण मेहनत का काम करने वाले युवक के लिए निम्न मात्रा में एक दिन का भोजन होना चाहिए—

गेहूँ (या जव)	७ छटाँक
दाल	१½ ,,
शाक सब्जी	५ ,,
{ दूध (शाकाहारी के लिए)	३ ,,
या	
{ मांस, मछली या अंडा	२ ,,
फल	१½ ,,
चीनी या गुड़	१ ,,
मक्खन, या घी या तेल	१ ,,

बच्चों के शरीर में बराबर वृद्धि होती रहती है। साथ ही खेल कूद में वे अपनी काफी शक्ति नष्ट करते हैं। अतः उनको अधिक पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। उनके भोजन में प्रोटीन की मात्रा अधिक होनी चाहिए। इसीलिए बच्चों के भोजन में दूध पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक माना गया है। मानसिक कार्य करने वालों को शारीरिक परिश्रम कम करना पड़ता है। ऐसे लोगों को अधिक पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है जिससे उनके मस्तिष्क के क्षय

हुए तन्तुओं की पूर्ति बराबर होती रहे। इन लोगों के भोजन में दूध, अंडा, सूखे मेवे आदि प्रोटीन युक्त पदार्थों तथा फलों की मात्रा कुछ अधिक होनी चाहिए। अधिक शारीरिक परिश्रम करने वालों को अधिक शक्ति उत्पन्न करने वाली चीजें—कार्बोहाइड्रेट तथा वसा युक्त पदार्थ—कुछ अधिक खानी चाहिए।

जितनी खाद्य सामग्रियाँ हैं उनमें से कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसमें भोजन के सब तत्व एक साथ उचित मात्रा में मिलते हों। अत एक ही चीज को भरपेट खा लेना भी ठीक नहीं है। प्रत्येक समय के भोजन में कई प्रकार की चीजें होनी चाहिए और साथ ही उनमें प्रोटीन, चर्बी व कार्बोहाइड्रेट की उचित मात्रायें होनी चाहिए। जहाँ तक हो सके एक ही प्रकार की चीजें प्रत्येक समय न खाकर उनमें भी अन्तर करते रहना चाहिए। एक ही चीज का सेवन प्रतिदिन करने से उसमें रुचि नहीं रह जाती। साथ ही यह स्वास्थ्य के लिए भी हानिकर है। ऐसा करने से उस वस्तु विशेष में भोजन के जो तत्व हैं वे ही बराबर हमारे शरीर में पहुँचते रहेंगे। अन्य तत्वों की शरीर में कमी रहेगी और फलस्वरूप स्वास्थ्य को हानि पहुँचेगी। अत: हमारे भोजन में दाल, अनाज, तरकारी, फल, घी या तेल, दूध, सभी चीजें थोड़ी थोड़ी सम्मिलित होनी चाहिए। दाल, तरकारी, और फलों को हम प्रत्येक समय के खाने में बदल-बदल कर रख सकते हैं। ताजे फलों और हरी तरकारियों के सेवन से हमें खनिज लवण और विटामिन प्राप्त हो जाते हैं।

निम्न तालिका में कुछ भोजनों के विभिन्न भोजन-तत्वों की औसत मात्रायें दिखलाई गई हैं। इनके अध्ययन से यह और भी स्पष्ट हो जायगा कि हमें क्यों अपने भोजन में अदल बदल कर भिन्न भिन्न चीजें खानी चाहिए।

भोजन	पानी प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	चर्बी प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	नमक प्रतिशत
रोटी	३८	७	१	५२	२
मास	७२	२१	६	०	१
आलू	७७	२	०	२०	१

दूध	८७	३	४	५	१
मक्खन	१५	० २	८४ ४	०	० ४
अडा	७५	१२ ५	११ २५	०	१

खाद्य वस्तुओं को चुनने के साथ साथ खाने के सम्बन्ध मे एक बात और ध्यान में रखने योग्य है। खाना सदा समय पर खूब चबा कर खाना चाहिए। जितनी ही भली प्रकार हम अपने भोजन को दाँतो से चबायेंगे उतनी ही सरलता से वह पचेगा। साथ ही ऐसा करने से पोषक सस्थान का काम भी कुछ हल्का हो जायगा। भोजन मुख मे अधिक देर ठहरने से उसमे लार भी अधिक मात्रा मे और भली प्रकार मिल जाती है। इससे भी पाचन क्रिया में सहायता मिलती है। इससे भी अधिक आवश्यक यह है कि भोजन सदा अपने समय पर ही खाना चाहिए। भोजन पचने की सम्पूर्ण क्रिया तथा बिना पचे भाग के मलाशय तक पहुँचने में लगभग १७ १८ घटे लगते हैं किन्तु भोजन को आमाशय में पचकर, घुलनशील रूप में बदलने और वहाँ से निकलने मे लगभग ४-५ घटे लगते हैं। अत भरपेट भोजन करने के ४ ५ घटे के बीच मे कुछ भी नहीं खाना चाहिए। ऐसा करने से नया भोजन आमाशय के अधपचे भोजन मे मिल जाता है। इस प्रकार अपच या कोष्ठबद्धता (कब्ज) हो जाती है। अत दिन मे केवल दो बार भरपेट भोजन करना ५-६ बार थोड़ा-थोड़ा करके खाने से अच्छा है। दो बार के पूरे भोजन के बीच में कुछ फल या दूध लिया जा सकता है। भोजन के लिए सर्वोत्तम नियम यही है कि प्रात काल कुछ दूध लिया जाय। दूध के साथ अपने सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा सा बादाम, भीगे चने (अकुर निकले हुए हों तो अधिक अच्छा है), या घर की बनी कुछ अन्य वस्तु थोड़ी सी खानी चाहिए। इसके बाद दोपहर के भोजन में दाल, तरकारी, चावल व रोटी खानी चाहिए। सध्या समय जलपान के लिए कुछ फल होने चाहिये। यदि सम्भव हो सके तो कुछ दूध भी पी लेना चाहिए। रात के भोजन मे फिर दाल, चावल, तरकारी, व रोटी खानी चाहिए। रात का भोजन सोने से २-३ घटे पूर्व ही करना चाहिए। भोजन के सम्बन्ध में इन बातो का ध्यान रखने से स्वास्थ्य सदेव ठीक बना रहता है।

कुछ खाद्य पदार्थ और उनकी विशेषतायें

अनाज—अनाजों में गेहूँ, चावल, जौ आदि सम्मिलित हैं। प्राय. इन सभी अनाजों में ७० प्रतिशत स्टार्च होता है। प्रोटीन की मात्रा ६ प्रतिशत से १८ प्रतिशत के बीच में रहती है। थोड़ी चर्बी, कुछ खनिज लवण और विटामिन भी सब अनाजों में पाये जाते हैं। सभी अनाजों की ऊपरी पर्त या छिलके में उसका पोषक द्रव्य काफी मात्रा में एकत्रित रहता है, अत. उसे अलग न करना चाहिए। मिलों में अनाजों का पिसाना भी उचित नहीं है। ऐसा करने से दोहरी हानि होती है। एक तो मिलों में अनाज का छिलका अलग हो जाता है, दूसरे मशीन की गर्मी से गर्म होने के कारण अनाजो के विटामिन काफी मात्रा में नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण लोग हाथ की चक्की का पिसा आटा मिल में पिसे हुए आटे की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। आटे से यदि चोकर अलग कर दी जाय तो उसके पोषक भाग में कमी हो जाती है। अत आटे का उपयोग चोकर सहित ही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त चोकर का अपाच्य भाग मलाशय के विसर्जन कार्य में सहायता देता है और कब्ज नही होने पाता। चावल और जौ जब मिलों में साफ किये जाते हैं तो उनकी ऊपरी पर्त छील कर अलग कर दी जाती है जिससे उन पर एक विशेष चिकनाहट व चमक आ जाती है। इस चमक के कारण वे देखने में बड़े सुन्दर लगने लगते हैं किन्तु उनके पोषक तत्त्व, विशेषकर उनके विटामिन, काफी मात्रा में नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप इन अनाजों को खाने से आहार के पोषकतत्व कम प्राप्त होते हैं और साथ ही इनमें विटामिन की कमी होने से हमारा स्वास्थ्य भी कभी ठीक नहीं रहता, विभिन्न प्रकार के रोग हो जाया करते हैं। चावल अपने स्वाभाविक रूप में हानिप्रद नहीं है, किन्तु मशीन द्वारा साफ किये हुए चावल खाने वालों में वेरी वेरी रोग पाया जाना एक साधारण सी घटना है।

दालें—ऊपर बतलाये गये अनाजों की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि उनमें प्रोटीन व चर्बी की कमी होती है। इस आहार तत्त्व की कमी को पूरा करने के लिए भोजन में दालो का होना अत्यन्त आवश्यक है। दालें कई प्रकार की होती

हैं और हमें क्रम से सभी का उपयोग करना चाहिए। दालों में प्रोटीन की मात्रा बहुत होती है। साथ ही इनमें चर्बी और खनिज लवण भी अनाजों की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा में होते हैं।

कद मूल (roots and tubers)—कुछ पौधे ऐसे होते हैं जिनकी जड़ें और कंद खाने के काम में आती हैं, जैसे आलू, गाजर, शलजम, प्याज, अरुई और मूली आदि। इनका अधिक भाग स्टार्च और पानी होता है। इनमें प्रोटीन वाले पदार्थ (nitrogenous matter) बहुत कम होते हैं। इन सब में सेलूलोज (cellulose) नामक कार्बोहाइड्रेट काफी होता है जो स्वयं तो अपाच्य है पर कब्ज को दूर करने में सहायता पहुँचाता है। इनमें खनिज लवण और विटामिन भी खूब होते हैं। गाजर, मूली आदि कच्ची खाने से ही अधिक लाभ पहुँचाती हैं। उबाल कर या मसाले आदि के साथ तरकारी बना कर खाने से इन चीजों के खनिज लवण और विटामिन प्राय सब के सब ही नष्ट हो जाते हैं। आलू, अरुई आदि को भी यदि उबाल कर खाना हो तो छिलके समेत ही उबालना चाहिए। ऐसा करने से कोई पोषक तत्व निकल कर पानी में नहीं मिलने पाता, वरन् छिलके के भीतर ही उसकी पर्त जम जाती है। अत उबालने के उपरान्त पतला छिलका उतारना चाहिए। किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम विधि तो भाप द्वारा पका कर खाने की है।

हरी तरकारियाँ—इस श्रेणी में लौकी, तरोई, परवल, पालक, मेथी, सोया आदि सभी हरी तरकारियाँ सम्मिलित हैं। इनमें लगभग ९० प्रतिशत पानी, २ प्रतिशत प्रोटीन, ४ प्रतिशत स्टार्च, १ प्रतिशत चर्बी तथा शेष भाग खनिज लवण होते हैं। इन सब में विटामिन भी खूब होते हैं। बैंगन, टमाटर तथा गोभी आदि में विटामिन-सी बहुत मात्रा में पाया जाता है। इनका उचित मात्रा में सेवन करने से कब्ज कभी नहीं होने पाता। अत प्रत्येक प्राणी को अपने भोजन में यथा-शक्ति अधिक मात्रा में हरी तरकारियाँ सम्मिलित करनी चाहिए।

फल—फलों की उपयोगिता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। फिर भी जनता में यह अन्धविश्वास बहुत फैला है कि अंगूर, अनार, संतरा व सेब

आदि बढ़िया फल ही लाभदायक होते हैं, खरबूजा, तरबूज, या खीरा, ककड़ी आदि मौसमी फलों का स्वास्थ्य की दृष्टि मे कोई महत्त्व नहीं है। पर वास्तव में यह नितान्त निर्मूल धारणा है। ये फल भी वैसे ही लाभकारी हैं जैसे अंगूर, सेव आदि। अत. इनकी ऋतु के समय मनुष्यों को इनका खूब उपयोग करना चाहिए। इन मौसमी फलों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये सस्ते होते हैं और गरीब लोग भी इनको खाकर इनसे लाभ उठा सकते हैं।

फलों में अधिकाश भाग कार्बोहाइड्रेट और पानी का होता है। इनके अतिरिक्त वानस्पतिक अम्ल (vagetable acids) तथा खनिज लवण भी खूब होते हैं। सभी विटामिन सब फलों में रहते हैं किन्तु विटामिन सी बहुत अधिक मात्रा में फलों में पाया जाता है।

सूखे फल और मेवे—मेवों में कार्बोहाइड्रेट के साथ-साथ प्रोटीन और चर्बी भी काफी मात्रा में पाई जाती हैं। इसी से ये अधिक पोषक आहार माने जाते हैं। इनका सेवन प्रतिदिन किन्तु थोड़ी मात्रा में करना चाहिए क्योंकि ये गरिष्ट खाद्य (condensed food) होते हैं।

मसाले—कुछ मसालों का उपयोग कुछ सीमा तक सभी स्थानों पर होता है, जैसे नमक, काली मिर्च आदि, किन्तु इनका अधिक उपयोग भारतवर्ष में ही होता है। मसालों का अधिक उपयोग हानिकर है (इनसे वस्तुओं का स्वाद अच्छा हो जाता है और भोजन अच्छा लगने पर लोग प्रायः आवश्यकता से अधिक खा लेते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें प्राय· अजीर्ण हो जाता है। इसके अतिरिक्त मसालों का उपयोग करने में प्रत्येक वस्तु को भली प्रकार भूनने और कुछ अधिक देर तक पकाने की आवश्यकता पड़ती है। देर तक आग पर चढे रहने से उन चीजों के विटामिन और खनिज लवण नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ऐसे भोजन में इन दो मुख्य पोषक तत्त्वों की कमी हो जाती है।

"नमक, जीरा, कालीमिर्च, लौंग, इलायची, अजवाइन, सौंफ आदि कुछ मसाले ऐसे हैं जो भोजन को स्वादिष्ट बनाते हैं और अपनी महक से लार के निकलने में सहायता पहुँचाते हैं। लार अधिक निकलने से भोजन के पचने में

सहायता मिलती है। अत. थाड़ी सी मात्रा में मसालों का उपयोग बुरा नहीं है. पर अधिक मात्रा में मसाले खाने मे स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है।

अचार-चटनी—मसालों की भाँति अचार चटनी का उपयोग भी भारत में ही सबसे अधिक होता है, यो ता सभी देशा में किसी न किसी प्रकार के अचार व चटनी का उपयोग कुछ मात्रा में होता ही है। हमारे यहाँ आम और नाबू के अचार अधिक बनते हैं। करौंदा, कटहल, नारंगी आदि अनेकों चीजा क अचार भी प्राय लोग बनाते हैं। इसी प्रकार चटनी भी अनेकां भाँति की बनती है। मसाला की भाँति इनका भी अधिक मात्रा में सेवन करना बुरा है, किन्तु थोड़ी मात्रा में इन्हें खाने से कोई हानि नहीं होता। ये भी लार-ग्रन्थियों को उत्तेजित करते हैं जिससे लार अधिक निकलती हैं और फलस्वरूप भोजन शीघ्र पचता है।

पेय पदार्थ—यों तो पेय पदार्थों में पानी ही मुख्य है किन्तु आजकल इसके अतिरिक्त चाय, कहवा, कोको, लेमनेड आदि पीने की प्रथा खूब बढ़ गई है। इन वस्तुओं का अधिक उपयोग स्वास्थ्य के लिए हानिकर है, अत इन्हें अधिक पीना अच्छा नहीं है। इनके प्रभाव के सम्बन्ध में हम यथास्थान विस्तृत रूप से बतलायेंगे। शुद्ध स्वच्छ जल का सेवन स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम और लाभप्रद है, अत शुद्ध जल का सेवन आवश्यकतानुसार खूब करना चाहिए।

भोजन पकाने की विधि

फलों को छोड़कर अन्य सब वस्तुयें पकाकर खाई जाती हैं। साधारण भोजन पकाना सभी कन्याये जानती हैं, फिर भी भोजन पकाने के सिद्धान्तो के सम्बन्ध में यहाँ कुछ शब्द कह देना आवश्यक है। भोजन कैसे पकाया जाता है इस पर भी उसकी उपयोगिता निर्भर करती है। तेज आग पर अथवा अधिक देर तक पकाये हुये भोजन में विटामिन नष्ट हो जाते हैं। सफाई का भी पूर्णरूप से ध्यान रखना आवश्यक होता है।

भोजन तीन प्रकार से पकाया जाता है—(१) उबाल कर, (२) भून कर तथा (३) भाप के द्वारा।

उबाल कर बनाने में अधिक तेज आग न होनी चाहिए। जिन वस्तुओं को छील कर उबाला जाय उनका पानी नहीं फेंकना चाहिए। आलू, अरुई जैसी चीजों को छिलके सहित उबालना अच्छा है। इनके भीतर का समस्त कार्बोहाइड्रेट छिलके के नीचे एकत्रित हो जाता है और ऊपर से पतला छिलका आसानी से अलग हो जाता है। इस प्रकार इनका कोई पौष्टिक तत्त्व भी नष्ट नहीं होने पाता।

आग में भून कर पकाने से उस वस्तु के सब विटामिन नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार घी में तल कर बनाई हुई चीजें भी स्वास्थ्यप्रद नहीं होतीं। अत जहाँ तक हो सके वस्तुओं को भूनकर या तलकर नहीं पकाना चाहिए।

सबसे उत्तम विधि भाप से भोजन पकाने की है। 'कुकर' (cooker) में भोजन का पकाना इसका एक उदाहरण है। इस प्रकार भोजन बनाने से भोजन के किसी पौष्टिक तत्त्व के नष्ट होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अतः इस प्रकार पकाया गया भोजन सब से अधिक स्वास्थ्योपयोगी होता है।

भोजन का संरक्षण

भोजन के संरक्षण से हमारा तात्पर्य भोजन पदार्थों को सुरक्षित रखने से है। सब चीजें सब समय नहीं मिलतीं अतः कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे एक ऋतु की वस्तु को दूसरी ऋतु में उपयोग करने के लिये सुरक्षित रखा जाता है। मुरब्बे इसका एक उदाहरण हैं। यों तो प्रत्येक ऋतु में कोई न कोई फल मिलते ही हैं, किन्तु सब फलों के विभिन्न गुण होते हैं, अतः यदि हम उन्हें सुरक्षित रखें तो सब ऋतुओं में उनका उपयोग कर लाभ उठा सकेंगे। उदाहरणार्थ, आप आँवले को ही ले लीजिए। आँवले की उपयोगिता सर्वमान्य है। इसमें विटामिन-

सी प्रचुर मात्रा में होता है। एक आँवला प्रतिदिन खा लेने से विटामिन सी की आवश्यक मात्रा मिल जाती है। मार्च के महीने के बाद ताजा आँवला नहीं मिलता। अत ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में उपयोग में लाने के लिये आँवले का मुरब्बा बना कर रखा जाता है। मुरब्बा बनाते समय ५-७ दिन आँवले को चूने के पानी में भिगोना तथा उबाल कर उसका पानी फेंक देना उचित नहीं है। ऐसा करने से उसका विटामिन सी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार बनाया हुआ मुरब्बा स्वादिष्ट तो अधिक होता है परन्तु उसके उपयोगी तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। आँवले को चीनी की चाशनी में चढ़ा कर एक बार में ही बना लेने से उसका विटामिन-सी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार सेब, नाशपाती, संतरा, अनानास आदि फल भी सुरक्षित रखे जाते हैं।

साधारण विधि से मुरब्बा बनाकर रखने के अतिरिक्त विशेष रूप से वायु-रहित डिब्बों में बन्द रखकर भी खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखा जाता है।

बहुत सी तरकारियाँ तो केवल धूप में सुखा कर ही रख ली जाती हैं, जैसे फूल गोभी, मेथी का साग आदि। यों तरकारियों और फलों को सुखाने के लिए एक यन्त्र भी बना है जिसे डीहाइड्रेटर (dehydrator) कहते हैं। इसमें बड़ी शीघ्रता से तरकारियाँ सूखती हैं।

इसके अतिरिक्त अनाज, मसालों आदि को चूहों, घुन, व सीलन आदि से बचाकर रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। अनाज को बन्द ढक्कनदार बर्तनों में रखना अत्यन्त आवश्यक है जिससे न तो उसमें सीलन ही लग सके और न चूहे ही उसे खाकर नष्ट कर सकें। अनाज के बर्तनों को ऐसे कमरे में रखना चाहिए जिनमें धूप और हवा अच्छी तरह जाती हो। इससे भी अनाज की सीलन से रक्षा होती है। चूहों से रक्षा करने के लिये बन्द बर्तनों में रखने के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि निकालते समय अनाज के दाने जमीन पर न गिरें। घुन तथा दूसरे छोटे कीड़े भी अनाजों को नष्ट करते हैं। सीलन से बचाव करने से घुन आदि से कुछ रक्षा तो हो जाती है, इसके अतिरिक्त बीच-

बीच में अनाज को धूप भी दिखलाते रहना चाहिए। गेहूँ और दालों में सूखी नीम की पत्तियाँ या प्याज के छिल्के डालकर रखने से उनमें घुन नहीं लगने पाता। चावल में सबसे जल्दी घुन लगते हैं। अतः चावल की बड़ी देखभाल करनी पड़ती है। चावल को धूप दिखलाने से चावल टूटता है। चावल में हल्दी मिलाकर रख देने से उसमें घुन नहीं लगने पाता। इस प्रकार देखभाल रखने से अनाज सुरक्षित रखा जा सकता है।

प्रश्न

(१) भोजन के मुख्य तत्त्व क्या हैं और उनकी शरीर के लिये क्या उपयोगिता है ?

(२) विटामिन क्या हैं और इनका शरीर व स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (हरी तरकारियों और फलों की स्वास्थ्य के लिए क्या उपयोगिता है ?

(३) "५-६ बार थोड़ा थोड़ा करके खाने की अपेक्षा दो बार भरपेट भोजन करना अधिक अच्छा है।" क्यों ?

बारहवाँ अध्याय

भोजन (२)

दूध

दूध एक पेय पदार्थ है। इसमें पोषक तत्त्व अन्य किसी खाद्य पदार्थ से कम नहीं होते, अत. यह हमारे भोजन का एक मुख्य अङ्ग है। छोटे बच्चों के लिए तो दूध ही एकमात्र भोजन है। अत. इसके महत्त्व को ध्यान में रखकर हम इसके सम्बन्ध मे यहाँ विस्तार से विचार करेंगे। वास्तव में दूध ही एक ऐसी वस्तु है जिसे हम आदर्श भोजन (ideal food) कह सकते हैं।

बालक और दूध—जिस समय बालक जन्म लेता है उसके अग प्रत्यग कोमल शिशुअवस्था में रहते हैं, किन्तु उसके जीवन की गति के लिए उन सबको अपना कार्य नियमपूर्वक करना पड़ता है। बालक का पोषक संस्थान भी उस समय एक निश्चित सीमा के भीतर ही काम कर सकता है और अपनी शक्ति के अनुसार कुछ ही चीजों को पचा भी सकता है। प्रकृति ने बच्चों की आवश्यकता को माता के दूध के रूप में पूरा किया है। जिन बच्चों को किसी कारण माता का दूध प्राप्त नहीं होता उनका स्वास्थ्य प्राय. ठीक नहीं रहता। इससे भी यही सिद्ध होता है कि माता का दूध ही बच्चों का स्वाभाविक भोजन है। इस समय बालक केवल दूध पर रहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हम अनाजों, दालों, तरकारियों और फलों आदि से जिन पोषक तत्त्वों को प्राप्त करते हैं वे सभी माता के दूध में वर्तमान रहते हैं। यदि दूध में कोई तत्त्व अधिक और कोई कम होता तो बालक का स्वास्थ्य ठीक नहीं रह पाता। अतः यह स्पष्ट है कि माता के दूध में आहार के सब तत्त्व उस उचित मात्रा में रहते हैं जिसकी बच्चे को स्वास्थ्य के लिए आवश्यकता रहती है।

आदर्श सन्तुलित भोजन—माता के दूध का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसमें १.५ प्रतिशत प्रोटीन, ३.५ प्रतिशत चर्बी, ७ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, ०.२ प्रतिशत नमक, तथा ८८.२ प्रतिशत पानी होता है। इसके अतिरिक्त विटामिन भी पर्याप्त मात्रा में वर्तमान रहते हैं। दूध के इस विश्लेषण से हमें यह ज्ञात होता है कि मनुष्य शरीर की वृद्धि व पोषण तथा उसके स्वास्थ्य के लिए किस मात्रा में भोजन तत्वों की आवश्यकता होती है। यदि अपने आहार की अन्य वस्तुओं का विश्लेषण करके हम उनकी तुलना माता के दूध से करें तो हमें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि हमारे आहार में किस तत्त्व की कमी है और किसकी अधिकता। इस प्रकार हमें भोजन की वस्तुयें उचित रूप से चुनने में सहायता मिलती है।

इस प्रकार की तुलना करने से हमें ज्ञात होता है कि गाय का तथा अन्य कुछ स्तनधारी जीवों का दूध माता के दूध से बहुत मिलता है। गधी का दूध माँ के दूध से बहुत अधिक मिलता है और इसी कारण एक साल से छोटे बच्चों को, जिन्हें माता का दूध नहीं दिया जा सकता, यह दूध प्रायः दिया जाता है।

पोषक तत्त्वों की दृष्टि से गाय का दूध सर्वोत्तम होता है। नीचे की तालिका में माता के दूध तथा गाय के दूध के पोषक तत्व दिखलाये गये हैं:—

	प्रोटीन	चर्बी	कार्बोहाइड्रेट	नमक	पानी
माता का दूध	१.५	३.५	७	०.२	८८.५
गाय का दूध	३.५	३.५	४.५	०.७	८८.५

विटामिन भी माता के दूध की भाँति गाय के दूध में खूब होते हैं। माता का दूध छोड़ने पर बच्चों को सर्वप्रथम गाय का दूध ही मिलता है। इसमें माता के

दूध की अपेक्षा प्रोटीन और नमक अधिक होते हैं, पर कार्बोहाइड्रेट कम। चर्बी दोनों में समान मात्रा में होती है। दोनों प्रकार के दूध की प्रोटीन और चर्बी तथा नमक भिन्न प्रकार के होते हैं। इसीसे यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि लगभग नौ महीने की अवस्था तक बालक को माता के दूध पर ही रखना चाहिए। इस समय कुछ फलों और हरी तरकारियों का रस भी देना चाहिए। नौ महीने की अवस्था पर बालक का पोषक संस्थान इतना प्रौढ़ हो चुकता है कि माता के दूध से मिलती जुलती अन्य चीजों को भी पचा सके। अतः माता का दूध छुड़ाते समय गाय का दूध ही देना चाहिए। गाय का दूध माता के दूध से भिन्न होता है पर उसे माता के दूध के समान बनाया जा सकता है। गाय के दूध में पानी मिलाने से उसमें प्रोटीन की प्रतिशत मात्रा कम हो जाती है और थोड़ी सी चीनी मिला देने से उसमें कार्बोहाइड्रेट की प्रतिशत मात्रा बढ़ जाती है। पानी की मात्रा बच्चे की अवस्था पर निर्भर करेगी। एक वर्ष के बालक को गाय का दूध बिना पानी मिलाये अपने स्वाभाविक रूप में ही दिया जा सकता है।

दूध की सफाई—दूध आदर्श भोजन होता हुआ भी एक ऐसा पदार्थ है जो बहुत शीघ्र ही खराब हो जाता है, क्योंकि इसमें जीवाणु बड़ी शीघ्रता से पनपते हैं। अतः दूध के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है और इसीसे दूध की सफाई पर विशेष महत्व दिया जाता है। सर्वप्रथम और मुख्य बात यह है कि गाय को किसी प्रकार का रोग न हो। दूध की स्वच्छता के लिए यह आवश्यक है कि दूध स्वच्छ स्थान पर दुहा जाय, दुहने के पहले दुहने वाला अपने हाथों व गाय के थनों को स्वच्छ जल से भली प्रकार धोकर साफ करले, तथा जिस बर्तन में दूध दुहा जाय वह भी पूर्णतः स्वच्छ हो। दुहने वाला स्वस्थ हृष्टपुष्ट मनुष्य होना चाहिए और जिस बर्तन में दूध दुहा जाय वह इनेमेल या राँगे की कलई किया हुआ हो तो अच्छा है। दुहने के बाद दूध को तुरन्त ढक कर रखना चाहिए। जो लोग ग्वालों से दूध लेते हैं उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि ग्वाले मार्ग में खुले बर्तनों में दूध न लायें। गृहस्वामिनी का कर्त्तव्य है कि स्वच्छ महीन छलनी से साफ बर्तन में छानकर दूध को उबाले।

दूध को ढक कर उबालना ही अच्छा है क्योंकि इससे दूध में किसी प्रकार की गर्द आदि नहीं गिरने पाती। उबालने के पश्चात् यदि दूध को रखना हो तो उसे जिस बर्तन में रखना हो उसमें डाल कर तुरन्त ढक देना चाहिए और पानी के भीतर उस बर्तन को रख कर दूध को ठंढा कर लेना चाहिए। इस प्रकार रखा गया दूध रखने से खराब नहीं होता। खुला रहने या गंदे बर्तनों में रखे जाने से दूध खराब हो जाता है।

दूध को जीवाणुओं से रहित रखने तथा उसे देर तक रख सकने की कुछ विधियों पर नीचे प्रकाश डाला जाता है :—

(१) उबालना—यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि दूध के लिये जिन बर्तनों का उपयोग किया जाय वे विशेष रूप से स्वच्छ हों। दूध को धीमी आग पर धीरे-धीरे देर तक उबालने से उसके सब विटामिन नष्ट हो जाते हैं। अतः इस प्रकार गर्म किये हुए दूध के गुण कम हो जाते हैं। दूध के जीवाणुओं को पूर्णत नष्ट करने के लिए १००° शतांश का तापक्रम पर्याप्त होता है। इस तापक्रम पर दूध के विटामिन भी नष्ट नहीं होते। अतः दूध को साधारण तेज आग पर गर्म करना चाहिए और जैसे ही उसका तापक्रम १००° शतांश पहुँचे उसे आग पर से उतार लेना चाहिए। १००° शतांश तापक्रम पहुँचने पर दूध में पहला उबाल आने लगता है। इसीसे हम साधारणत. लोगों को कहते सुनते हैं कि एक उबाल का ही दूध लाभदायक होता है। यदि उबालने के पश्चात् दूध को कुछ अधिक देर रखने की आवश्यकता हो तो गर्म दूध के बर्तन को पानी के अन्दर डुबा कर दूध को ठंढा कर लेना चाहिए। हम पढ़ चुके हैं कि १००° श० तापक्रम पर इसके जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। एकदम ठंढे दूध में जीवाणु पनप नहीं पाते, बीच के तापक्रम में ही वे अधिक पनपते हैं। अतः यदि दूध को एकदम ठंढा करके रखा जायगा तो उसके जल्दी खराब होने की सम्भावना नहीं रहेगी।

(२) जीवाणुरहित करना (sterilisation)—इस विधि में दूध को स्वच्छ बर्तनों में बन्द करके १००° श के तापक्रम तक गरम किया जाता है

और फिर लगभग १५ मिनट तक आग पर ही रखा रहने दिया जाता है। इसके पश्चात् इन बर्तनों को इस प्रकार बन्द कर दिया जाता है कि हवा उनके अन्दर न जा सके।

(३) पास्तूर क्रिया द्वारा गरम करना (pasteurisation)—इस विधि में दूध को लगभग ६०°-६५° श तापक्रम पर आधे घंटे तक गरम किया जाता है। इसके बाद दूध को तुरन्त बर्फ द्वारा ठंढा करके उसका तापक्रम २२° श पर लाया जाता है और तब दूध को बन्द बर्तनों में रख लिया जाता है। यह दूध रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं से रहित होता है और इसी से कभी किसी प्रकार की बीमारी फैलाने का कारण नहीं होता। साथ ही इस विधि से गरम करने पर दूध के पोषक तत्त्व भी नष्ट नहीं होते। प्राय सभी बड़ी डेरियों में इस प्रकार गर्म करके ही दूध बाँटा जाता है। किन्तु यह दूध ३ या ४ दिनों से अधिक नहीं रखा जा सकता क्योंकि इस विधि में यद्यपि रोगों के जीवाणु तो मर जाते हैं पर कुछ अन्य जीवाणु नहीं मरते जो बाद में दूध को खट्टा कर देते हैं।

(४) सुखाना (drying)—अधिक दिन रखने के विचार से दूध को सुखाने की प्रथा चल पड़ी है। दूध इस्पात के बने दो अत्यन्त गर्म बेलनाकार बर्तनों के बीच से महीन धारा के रूप में बहाया जाता है। गर्मी के कारण दूध का सब पानी जल जाता है और वह सूखे चूर्ण के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस विधि से दूध के विटामिन नष्ट हो जाते हैं। ग्लैक्सो सूखे दूध का एक उदाहरण है। यात्रा आदि में बच्चों के लिये यह उपयोगी सिद्ध होता है। युद्ध-क्षेत्रों पर भी इसकी उपयोगिता सिद्ध होती है। किन्तु ताजे दूध के स्थान पर प्रतिदिन इसका उपयोग करना उचित नहीं है। इस दूध को प्रतिदिन पीने वाले बालकों को उचित मात्रा में पोषक तत्त्व प्राप्त नहीं होते।

प्रश्न

(१) क्या बड़े लोगों के लिये भी दूध उतना ही आवश्यक है जितना बालकों के लिए ?

(२) नन्हें बालकों को गाय का दूध देते समय उनमें पानी व चीनी क्यों मिलाई जाती है ?

(३) दूध की स्वच्छता के लिये क्या क्या बातें आवश्यक हैं ? दूध को जीवाणुरहित रखने की कौन सी विधि आप जानते हैं ?

(४) क्या डिब्बे के सूखे दूध ताजे दूध का स्थान ले सकते हैं ?

(५) सतुलित आहार के आवश्यक अवयव क्या-क्या हैं ? इसके विभिन्न अवयवों का शरीर मे आत्मीकरण कैसे होता है ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५१)।

(६) टिप्पणी लिखिये—

(क) मसाले, (ख) भोजन से पहले या भोजन करते समय अधिक पानी नहीं पीना चाहिए, (ग) दूध आदर्श आहार है। (हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(७) भोजन को पोषक बनाने के लिए किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ? सविस्तार उल्लेख कीजिए ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(८) उत्तम आहार के अवयव बताइये। उनकी पृथक् उपयोगिताओं का वर्णन कीजिए। किस प्रकार का भोजन आप एक विद्यालय के प्रोफेसर, एक मजदूर तथा एक सेठ के लिए उचित समझती हैं ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

(९) मनुष्य के सन्तुलित आहार में कौन-कौन से मुख्य अवयव रहना चाहिए ? कौन कौन से प्रमुख भोज्य पदार्थों में ये अवयव हैं ?

(हाई स्कूल परीक्षा, १९५६)

(१०) भोजन को पकाने की क्यों आवश्यकता होती है ? पकाने की कौन-कौन सी विधियाँ आप अपनाती हैं ? इनमें से सर्वोत्तम विधि कौन सी है ? कारण सहित लिखिये। (हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

तेरहवाँ अध्याय

अपनी स्वच्छता

(personal hygiene)

अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये भोजन, पानी और वायु आदि की स्वच्छता और उनके उचित उपयोग पर ही ध्यान देना पर्याप्त नहीं है वरन अपने स्वयं के रहन-सहन और अपनी आदतों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। हमारे रहन-सहन के ढङ्ग का हमारे स्वास्थ्य से गहरा सम्बन्ध है। जो मनुष्य समय असमय भोजन करता है, अपने घर शरीर व कपड़ों की सफाई नहीं रखता नियम पूर्वक तथा उचित मात्रा में नहीं सोता, नित्य क्रिया के सम्बन्ध में समय और सफाई का ध्यान नहीं रखता, उसका स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रह सकता। भोजन के सम्बन्ध में उचित नियमों का पालन करने से शौच आदि का समय भी नियत रहता है और फल-स्वरूप स्वास्थ्य ठीक रहता है। यहाँ हम शरीर, कपड़ों व घर की सफाई की महत्ता पर प्रकाश डालेंगे।

शरीर की सफाई

स्वस्थ रहने के लिये अपने शरीर की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। शरीर की सफाई के अन्तर्गत त्वचा, दाँत, नाखून, बाल आदि शरीर के सभी अंगों की सफाई सम्मिलित है। यहाँ हम प्रत्येक अंग की सफाई पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

त्वचा—हमारे शरीर से सदा जो पसीना निकलता रहता है वह हमारी त्वचा पर ही जमता है। पसीने के साथ साथ हवा के साथ आये धूल के कण आदि भी हमारी त्वचा पर—विशेष कर मुँह, हाथ व पैर आदि, खुले अंगों पर—चिपकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रतिदिन त्वचा की सफाई की जाय और इसीलिए हम लोगों के यहाँ प्रतिदिन स्नान करने पर इतना महत्व दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि प्रतिदिन प्रातःकाल स्वच्छ जल से स्नान

करें। नहाते समय शरीर के ऊपर कुछ पानी डाल लेने से ही काम नहीं चलता, शरीर को भली प्रकार रगड़ कर नहाना चाहिए जिससे त्वचा के ऊपर जमा हुआ सब पसीना तथा मैल छूट जाय। कोई नहाने वाला बढ़िया साबुन त्वचा पर लगा कर भली प्रकार मलना चाहिए और तत्पश्चात् पानी डाल कर नहाना चाहिए। किन्तु साबुन का बहुत अधिक उपयोग भी ठीक नहीं है। बेसन या नारंगी के छिलकों का उबटन साबुन से उत्तम होता है और विशेष रूप से बच्चों के लिये तो इनका ही उपयोग करना चाहिए।

नहाने के पानी का तापक्रम हमारे शरीर के तापक्रम से न तो अधिक कम और न अधिक ऊँचा होना चाहिए। शीत ऋतु में कुनकुने जल से नहाना लाभप्रद होता है। ठंढे जल का तापक्रम १६°श० से २०°श० के बीच में तथा कुनकुने जल का ४०° से ४४°श० के बीच में रहना चाहिए। अधिक गर्म पानी से नहाना हानिकर होता है। उससे त्वचा रूखी-सूखी और कान्तिहीन हो जाती है। नहाने के उपरान्त साफ व सूखे तौलिये से रगड़ कर शरीर को पोंछना चाहिए जिससे त्वचा पर नमी न रहने पाये। तत्पश्चात् स्वच्छ वस्त्र पहिनने चाहिए। यदि वस्त्र स्वच्छ न हो अथवा नहाने के पूर्व पहिने हुये वस्त्रों को ही फिर से पहिन लिया जाय तो नहाने का कोई लाभ नहीं रह जाता।

नहाने के सम्बन्ध में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि खाना खाने के तुरन्त बाद न नहाया जाय। ऐसा करने से भोजन ठीक से नहीं पच पाता। गर्मी की ऋतु में तो सध्या को नहाना आवश्यक है ही, जाड़े में सध्या को नहाना अपनी शारीरिक गर्मी और स्थान की अनुकूलता पर निर्भर करता है। शीत ऋतु में पसीना अपेक्षाकृत कम निकलता है। अतः सध्या को स्नान करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती, एक बार ठीक से नहाना ही पर्याप्त हो जाता है। यह विचार कि जाड़े में पसीना नहीं निकलता और ३-४ दिन में अथवा सप्ताह में एक बार नहाना ही पर्याप्त होता है, गलत है। प्रतिदिन त्वचा की सफाई करना शीत ऋतु में भी उतना ही आवश्यक है जितना ग्रीष्म ऋतु में।

के उपरान्त दाँत साफ न किये जायें तो भोजन के ये टुकड़े सड़ने लगते हैं और इनमें उत्पन्न हुये जीवाणु दाँतों पर भी आक्रमण करते हैं। ये जीवाणु दाँतों में पायरिया, दाँत का खोखला होना आदि रोग उत्पन्न कर देते हैं। पायरिया तो विशेष कर दाँत का बुरा रोग है। इसमें दाँतों की जड़े सड़ जाती हैं और उनमें से मवाद निकलने लगता है। यह मवाद भोजन के साथ पेट में पहुँच कर पाचन-क्रिया में भी हानि पहुँचाता है। दाँतों में रोग लग जाने से दाँत बहुत जल्दी ही कमजोर पड़ जाते हैं। कमजोर दाँतों से भोजन भली प्रकार चब नहीं पाता। अत. इसका प्रभाव भी पाचनक्रिया पर पड़ता है। भोजन ठीक से न पचने पर स्वभावतः अनेक रोग हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि दाँतों की सफाई अत्यन्त आवश्यक है।

किसी भी वस्तु के खाने के उपरान्त भली प्रकार दाँतों को रगड़ कर कुल्ला करना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रातःकाल उठते साथ ही तथा रात्रि में सोते समय भी दाँतों की सफाई करना अत्यन्त आवश्यक है। दाँतो की सफाई के लिए नीम या बबूल की दातून करनी चाहिये। दाँतों को स्वस्थ रखने की दृष्टि से दातून बड़ी उपयोगी वस्तु है। दातून तो प्रत्येक बार हम नई लेते हैं। अतः वह तो दाँतों को साफ कर देती है पर हमें उसकी सफाई का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। किन्तु खेद की बात तो यह है कि आजकल इसका उपयोग कम हो रहा है और इसका स्थान ब्रुश ले रहा है। ब्रुश को साफ रखने का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यदि ब्रुश ठीक से साफ न हुआ तो इसके द्वारा जीवाणुओं के दाँतों तक पहुँचने की सभावना रहती है। दातून में इस प्रकार के डर की कोई सभावना ही नहीं होती। मजन तो जैसे ब्रुश से किया जाता है उसी प्रकार दातून से भी किया जा सकता है। ब्रुश और दातून की कूँची समानरूप से काम में लाई जा सकती है। यदि ब्रुश का उपयोग करना ही हो तो प्रत्येक बार उपयोग में लाने के बाद उसे भली प्रकार गर्म पानी और साबुन से धोकर साफ कर लेना चाहिए और उसे इस प्रकार किसी कील आदि पर लटका कर रखना चाहिए जिससे वह जल्दी ही सूख जाय। यदि ब्रुश को सुखाने की फिक्र न की जाय तो गीला रहने से उसमें जीवाणुओं

के मौजूद रहने की सम्भावना रहती है। बाजार में मिलने वाले विभिन्न मंजनों का उपयोग करना भी अच्छा नहीं है। नेजवल (तुम्बरू के बीज) तथा नमक अथवा बादाम के कोयले और नमक से जो मंजन घर में तैयार किये जाते हैं वे दाँतों के लिए बहुत अच्छे होते हैं। मौलसरी के वृक्ष की छाल और अजवाइन का सत भी मंजन में मिलाने के लिए उत्तम वस्तुयें हैं।

दाँतों के साथ जीभ की भी सफाई करनी चाहिए। कुल्ला करने के पानी में थोड़ा सा सुहागा मिला देना अच्छा होता है। रात को थोड़ा सा सरसों का तेल और नमक लगा कर दाँतों की सफाई करना भी अच्छा होता है। दाँतों के महत्व को समझते हुये दाँतों की सफाई में किसी मनुष्य को भी लापरवाही न करनी चाहिए। एक बार दाँतों के खराब होने पर फिर उन्हें ठीक कर सकना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है। नकली दाँत वास्तविक दाँतों की बराबरी नहीं कर सकते। दाँतों का खराब होना स्वास्थ्य खराब होने के बराबर ही है। अत. बचपन से ही दाँतों की सफाई के सम्बन्ध में सावधान रहना आवश्यक है।

नाखून—बालों और दाँतों की सफाई की तरह नाखूनों की सफाई भी बहुत जरूरी है। यदि नाखूनों में गन्दगी भर जाती है तो वह भोजन के साथ पेट में पहुँच कर हानि पहुँचाती है। अत नहाते समय नाखूनों की सफाई का विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त सप्ताह में एक बार आगे बढे हुये नाखूनों को काट भी देना चाहिए। दोनों हाथों में अच्छी तरह साबुन लगा कर हथेली में नाखून रगड़ने से उनके अन्दर की मैल निकल जाती है। पैर के नाखूनों की सफाई का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।

कपड़ों की सफाई

शरीर की सफाई की भाँति कपड़ों की सफाई का भी हमें पूरा ध्यान रखना चाहिए। यदि नहा कर शरीर की सफाई करने के उपरान्त हम मैले व गन्दे वस्त्र फिर से पहिन लें तो शरीर की सफाई करना व्यर्थ हो जाता है। गंदे वस्त्रों में शरीर का पसीना, धूल के कण, रोगों के जीवाणु तथा चीलर आदि चिपके रहते हैं जो शरीर में त्वचा सम्बन्धी अनेक रोग उत्पन्न करते हैं।

अतः कपड़ों को साफ रखना अत्यन्त आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से केवल वस्त्रों का साफ होना ही पर्याप्त नहीं है वरन् कपड़ों का ऋतु के अनुसार होना तथा उचित नाप का होना भी आवश्यक है। केवल पहिनने के ही नहीं, ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र भी साफ होना आवश्यक है। यदि हम स्वयं साफ रहें और साफ वस्त्र पहनें, पर रात्रि में सोते समय गन्दे बिस्तर पर सोयें तो हमारा सफाई का सारा प्रयत्न निष्फल हो जाय और बिस्तर की गदगी हमें रोगी बना दे।

कपडों की स्वच्छता के सम्बन्ध में विस्तार से आप धुलाई कला में पढ़ेंगी।

घर की सफाई

शरीर व वस्त्रों की सफाई की भाँति ही घर की सफाई भी स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि घर गन्दा है तो हम शरीर व वस्त्रों को कितना ही साफ क्यों न करें हम पूर्णतः रोगों से नहीं बच सकते। अत. घर की स्वच्छता पर भी उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना अपने शरीर व वस्त्रों की सफाई की ओर। घर की सफाई से तात्पर्य केवल अतिथि-गृह या बैठक की सफाई से ही नहीं है, वरन् भण्डार गृह, स्नानगृह, शौचगृह आदि सम्पूर्ण गृह की सफाई से है।

मकान की सफाई में साधारणत लोग मकान के फर्श पर झाड़ू लगा लेना या कभी कभी फर्श को धो लेना मात्र ही पर्याप्त समझते हैं। किन्तु वास्तव में फर्श के अतिरिक्त दीवारों और छतों की सफाई भी समान रूप से आवश्यक है। उनकी धूल आदि साफ करने के साथ ही मकड़ी के जाले आदि भी साफ करते रहना आवश्यक है। मकड़ी बहुत ही शीघ्रता से अपने जाले तान लेती है। यदि नियमपूर्वक सफाई न की जाय तो घर में खूब जाले लग जायँ और इनके कारण वहाँ धूल भी काफी मात्रा में रहे। मकान की खिड़की व दरवाजों को भी भली प्रकार झाड-पोंछ कर साफ रखना चाहिये। कमरों में जो फर्नीचर और अन्य सामान हो उसे भी झाड़ पोंछ कर साफ करना चाहिए, क्योंकि यदि इन

यदि घर की सम्पूर्ण सफाई रखी जाय और परिवार भर में कोई एक व्यक्ति भी ऐसा हो जिसे थूकने की गंदी आदत हो और वह घर में सब जगह थूकता फिरे, तो घर की सफाई व्यर्थ हो जाती है। अत. घर साफ रखने के लिये यह आवश्यक है कि जहाँ तहाँ थूका न जाय। वास्तव में तो थूकने की आदत ही बुरी है, चाहे घर के बाहर थूका जाय या घर के भीतर। सिनेमा या थियेटर-घरों में, सड़कों पर, या रेलगाड़ी या ट्राम व लारी के अन्दर थूकना समान रूप से हानिकर है। अतः माता पिता को देखना चाहिए कि उनके बालकों में ऐसी आदत न पड़े। तभी घर की सफाई पूरी तरह रह सकेगी।

प्रश्न

(१) शरीर की सफाई और स्वास्थ्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

(२) त्वचा की सफाई के लिए क्या करना चाहिए ?

(३) नाखूनों और दाँतों की सफाई का क्या महत्व है ?

(४) कपड़ों और घर की सफाई स्वास्थ्य के लिए क्यों आवश्यक है ?

(५) 'हृदय की पवित्रता के बाद मनुष्य जीवन में सफाई का ही मुख्य स्थान है।' इस कथन की समालोचना कीजिए।

(६) थूकने से क्या हानियाँ होती हैं ?

(७) (क) कसे वस्त्र पहनने से क्या हानियाँ होती हैं ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९४९)
(ख) स्वेद से लाभ ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(८) व्यक्तिगत स्वच्छता से आप क्या समझते हैं ? समझा कर लिखिए ?
(हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

चौदहवाँ अध्याय

व्यायाम और विश्राम

व्यायाम

मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये जिस प्रकार सन्तुलित भोजन, शुद्ध वायु और शुद्ध जल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार व्यायाम, विश्राम और निद्रा की भी आवश्यकता है। यदि हमें उत्तम भोजन और शुद्ध वायु प्राप्त हो, पर हम उचित व्यायाम और विश्राम न करें, तो भी हम स्वस्थ नहीं रह सकते। व्यायाम न करने से शरीर आलसी और रोगी हो जाता है। व्यायाम करने से मनुष्य फुर्तीला और क्रियाशील हो जाता है तथा वह हृष्ट-पुष्ट और निरोग रहता है। निरोग मनुष्य का शरीर और मस्तिष्क पूर्ण रूप से विकसित होता है तथा उसमें आत्मविश्वास की भावना प्रचुर मात्रा में आ जाती है। आत्मविश्वास की भावना मनुष्य में आ जाना उसकी उन्नति का निश्चित मार्ग है।

हम पढ़ चुके हैं कि शरीर में रक्त ही सब अगों को पोषक-तत्त्व पहुँचाता है तथा उनके मल पदार्थों को मल विसर्जन में भाग लेने वाले अगों तक ले जाता है। इससे स्पष्ट है कि रक्त का परिभ्रमण नियमित रूप से और उचित मात्रा में होना स्वास्थ्य के लिये बहुत महत्त्व रखता है। जिस समय हम कोई शारीरिक कार्य नहीं करते और चुपचाप आलसी की भाँति लेटे रहते हैं, हमारा सारा शरीर शिथिल रहता है। ऐसी अवस्था में रक्त-परिभ्रमण की गति भी धीमी रहती है। परिणाम-स्वरूप शरीर के सब अगों को पोषकतत्त्व कम मात्रा में पहुँच पाते हैं तथा उनके मल पदार्थ भी धीमी गति से वहाँ से दूर हो पाते हैं। अधिक आलसी और सुस्त व्यक्ति की पाचन-क्रिया भी ठीक से नहीं हो पाती जिसके फलस्वरूप भोजन का शरीर में एकीकरण ठीक नहीं हो पाता। भोजन का उचित एकीकरण न होने से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। इसके विपरीत

जो व्यक्ति क्रियाशील प्रकृति का होता है, उसका स्वास्थ्य सदैव अच्छा रहता है।

व्यायाम के लाभ—(१) कोई शारीरिक काम करते समय अथवा व्यायाम करते समय भी हमारे अंगों में गति होती है। इस गति के कारण रक्त-परिभ्रमण तीव्र गति से होता है। रक्त-परिभ्रमण के शीघ्रता से होने के कारण हमारे अंगों को पोषक तत्त्व अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं तथा उनके मल-पदार्थ शीघ्रता से रक्त द्वारा बाहर निकल जाते हैं।

(२) व्यायाम करते समय हम साँस भी जल्दी-जल्दी लेते हैं जिससे फेफड़ों में शुद्ध वायु अधिक मात्रा में पहुँचती है। इस प्रकार रक्त को अधिक आक्सिजन प्राप्त हो जाती है तथा उसमें की कार्बन डाइ-आक्साइड शीघ्रता से बाहर निकल जाती है।

(३) त्वचा में रक्त-सञ्चार शीघ्रता से होने के कारण पसीना अधिक मात्रा में निकलता है जिससे रक्त का यूरिया और यूरिक एसिड अधिक मात्रा में शीघ्रता से दूर हो जाते हैं।

(४) रक्त-सञ्चार तीव्रता से होने के कारण हृदय की गति बढ़ जाती है जिससे उसका भी पर्याप्त मात्रा में व्यायाम हो जाता है। ऐसा होने से हृदय दृढ़ बनता है और हृष्ट-पुष्ट रहता है।

(५) रक्त के पोषक तत्त्व शीघ्रता से विभिन्न अंगों में पहुँचने के कारण शीघ्र कम हो जाते हैं जिससे हमें भोजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। फलस्वरूप भूख ठीक से लगती है और इसी से भोजन अच्छी प्रकार पच जाता है और उसका रक्त में एकीकरण भी ठीक प्रकार से हो जाता है।

इन सबका सम्मिलित प्रभाव हमारे शरीर को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट बनाता है।

व्यायाम कैसे और कब करना चाहिए—व्यायाम सदैव खुली हवा में करना चाहिए जिससे शुद्ध वायु प्राप्त हो। गंदी हवा में व्यायाम करने से गंदी

हवा अधिक मात्रा में शरीर में पहुँच कर अधिक हानि पहुँचायेगी। इसके अतिरिक्त व्यायाम के सम्बन्ध में निम्न बातों का भी ध्यान रखना चाहिए—

(१) भोजन करने के तुरन्त बाद व्यायाम नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार व्यायाम करने के तुरन्त बाद ही भोजन भी नहीं करना चाहिए।

(२) तुरन्त स्नान करने के बाद व्यायाम करना या व्यायाम करने के तुरन्त बाद नहाना दोनों ही हानिप्रद हैं।

(३) व्यायाम अपनी शक्ति को समझ कर करना चाहिए। शक्ति से अधिक व्यायाम करना भी हानि पहुँचाता है। अपनी सामर्थ्य से अधिक कठिन या लगातार देर तक व्यायाम करने से हानि पहुँचती है। ऐसा करने से श्वास व हृदय के रोग हो जाते हैं। अधिक परिश्रम पड़ने से मासपेशियाँ दृढ़ और स्वस्थ होने के स्थान पर अशक्त और अस्वस्थ हो जाती हैं। हम कितना व्यायाम करें यह हमारी आयु, कार्य, भोजन और स्वास्थ्य पर निर्भर करता है।

व्यायाम के प्रकार—हम किस प्रकार का व्यायाम करें यह भी उक्त बातों पर निर्भर करता है। विभिन्न प्रकार के खेल हाकी, फुटबाल, कबड्डी आदि, झूला झूलना, तैरना, दौड़ना व टहलना व्यायाम के विभिन्न रूप हैं। इनमें से किसी न किसी प्रकार का व्यायाम प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। व्यायाम स्त्री व पुरुष दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। वृद्ध व्यक्तियों के लिए टहलना सबसे अधिक उपयुक्त व्यायाम है। छोटे बालकों के लिए दौड़ना तथा अन्य शारीरिक परिश्रम के खेल उपयुक्त होते हैं।

थकान और विश्राम

किसी काम को करने के उपरान्त हम थकान क्यों अनुभव करते हैं ? वास्तव में बात यह है कि किसी भी काम को करते समय हमारे शरीर का कुछ भाग क्षय होता रहता है और उसके फलस्वरूप उस अग विशेष में कुछ विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन विषैले पदार्थों के कारण ही हमें थकान मालूम होती है। थकान करने के लिए शरीर से इन विषैले पदार्थों का बाहर निकालना अत्यन्त

आवश्यक है। यदि हम अविराम गति से काम करते रहे तो ये विषैले पदार्थ शरीर में बराबर एकत्रित होते रहेंगे और शीघ्र बाहर न निकल सकेंगे। ये विषैले द्रव्य अग विशेष में थकान उत्पन्न करते हैं और उसे काम करने के लिए नि.शक्त बना देते हैं। साथ ही ये विषैले द्रव्य उस अग विशेष के तन्तुओं को भी हानि पहुँचाते हैं। अत इनका शीघ्र से शीघ्र वहाँ से हटाना आवश्यक होता है। जिस समय हम कोई काम नहीं करते उस समय हमारे शरीर को इन पदार्थों को बाहर निकालने का अवसर मिलता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारी दिनचर्या का कुछ समय ऐसा भी हो जब हम काम न करें। रक्त ही इन विषैले द्रव्यों को उन अगों से निकालता है। रक्त जब थकी हुई मासपेशियों में पहुँचता है तो वहाँ से इन विषैले पदार्थों को ले लेता है। विषैले पदार्थ को लिए हुए यही रक्त जब विसर्जन सस्थान मे पहुँचता है तो वहाँ ये पदार्थ रक्त से अलग कर लिए जाते हैं और फिर शरीर से बाहर निकाल दिये जाते हैं।

जिस समय अपने जिन अगों से हम काम लेते हैं उन्हीं मे विषैले पदार्थ एकत्रित होते हैं और फलस्वरूप उन्ही में थकान आती है। यदि हम लगातार अधिक देर तक उन्हीं अगों से काम लेते रहें तो वे थककर इतना नि शक्त हो जायेंगे कि उनसे काम ले सकना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। ऐसे समय यह आवश्यक होता है कि हम उस काम को तुरन्त बन्द कर दें और कुछ देर तक उस अग विशेष को विश्राम करने दें। यदि ऐसे समय हम इस प्रकार के किसी अन्य काम मे लग जायें जिसमें उन अगो से काम लेने की आवश्यकता न पड़े तो हम थकान अनुभव नहीं करेंगे, वरन् पूरी शक्ति से उस काम में लग सकेंगे।

साधारणत हम सब कार्यों को दो समूहों मे बाँटते हैं—मानसिक और शारीरिक। प्राय आप सब ने यह अनुभव किया होगा कि पढ़ते पढ़ते इतना थक जाने के बाद भी जब एक अक्षर और पढ़ना आपको असम्भव लग रहा हो खेलने कूदने मे आपका मन खूब लगता है और आप उसमें बिल्कुल भी थकान अनुभव नहीं करते। इसके विपरीत जिस समय दौड़ने व खेलने अथवा अन्य

किसी प्रकार के शारीरिक काम से आपका शरीर थक्कर चूर हो रहा हो आपको आराम से बैठकर या लेटकर पढ़ना बुरा नहीं लगता। वास्तव में बात यह है कि पढ़ने लिखने आदि में मानसिक परिश्रम होता है, शरीर को कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। पढ़ने-लिखने म हमारे नेत्र और मस्तिष्क में ही विषैले द्रव्य एकत्रित होते हैं और केवल उन्हीं को विश्राम की आवश्यकता होती है। खेलने-कूदने आदि में शरीर को परिश्रम करना पड़ता है और मस्तिष्क को विश्राम मिल जाता है। अत खेलते समय मस्तिक के विषैले द्रव्य बाहर निकल जाते हैं। इसी प्रकार जब शरीर थका होता है तो उसे ही विश्राम की आवश्यकता होती है, मस्तिष्क को नहीं। इसीलिए शरीर के थके होने पर आराम से बैठकर पढ़ना अच्छा लगता है। इससे शरीर के थके हुए अगों को विश्राम मिल जाता है और उनकी थकान दूर हो जाती है। अत शारीरिक काम के बाद मानसिक तथा मानसिक काम के बाद शारीरिक काम करने हम अपनी थकान दूर कर सकते हैं। इसी नियम के आधार पर स्कूलों में कठिन विषयों (जैसे गणित) के पश्चात् सरल विषय (जैसे गाना, व्यायाम आदि) सिखलाये जाते हैं।

इस प्रकार काम के प्रकार में अन्तर करके थके हुए अगो को विश्राम देने के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि दिन में कुछ समय हम पूर्ण विश्राम भी करें। दिन में कुछ देर विश्राम कर लेना स्वास्थ्य-प्रद होता है। वास्तव में तो सोते समय ही शरीर को पूर्ण विश्राम मिलता है। इस कारण दिन में आधा घटा सो लेना थकान दूर करने के लिए अच्छा है। रात में ७ घटे तो अवश्य सोना चाहिए। बच्चों व रोगियों को कुछ अधिक देर तक सोना चाहिए। छोटे बालक तो १२-१४ घटे तक सोते हैं। उनके लिए दिन में भी लगभग एक घंटा सोना आवश्यक है।

निद्रा—सोते समय सुख पूर्वक नींद आए इसके लिए कई बातें जरूरी हैं। पहली बात तो यह है कि सोने व उठने का समय नियमित हो। यह भी आवश्यक है कि सोने से कम से कम दो घटे पूर्व भोजन किया जाय। सोने का स्थान स्वच्छ और हवादार होना चाहिए। गर्मी की ऋतु में तो सभी लोग खुली हवा में

सोते हैं, लेकिन जाड़े व बरसात में जब कमरों में सोया जाय तो सोने के कमरे की सफाई का खूब ध्यान रखना चाहिए। कमरा खूब स्वच्छ और हवादार होना चाहिये क्योंकि हमारे सोने पर स्थान का भी प्रभाव पड़ता है। सोने के कमरे मे पलगो व पानी या अन्य आवश्यक चीजों को रखने के लिए तिपाई आदि के अतिरिक्त अधिक सामान नहीं होना चाहिए। सामान अधिक होने से वायु के आवागमन तथा कमरे की सफाई दोनो ही बातों में बाधा पड़ती है। कमरे की खिड़कियाँ आदि खुली रखनी चाहिए। शीत से बचने के लिए भी खिड़कियाँ बन्द करना उचित नहीं है, इसकी अपेक्षा अधिक कपड़ा ओढ़ लेना उत्तम है। सोते समय पहिनने के वस्त्र खुले, स्वच्छ और कम होने चाहिए। कपड़े शरीर पर कसे भी न हो। कपड़ों के कसे होने पर श्वासोच्छ्वास क्रिया तथा रक्त के बहाव मे रुकावट होता है। बिछाने व ओढ़ने के कपड़े भी स्वच्छ होना आवश्यक है गन्दे बिस्तर पर नींद अच्छी नहीं आती और साथ ही रोग होने की सभावना रहती है। ढीली चारपाइयों पर नींद ठीक नहीं आती। लकड़ी की कड़ी बेंचों तथा तख्तों पर सोना भी आरामप्रद नहीं होता। अत निवाड़, सुतली या बान की कसी बिनी चारपाइयों पर सोना ठीक होता है।

प्राय. लोग दो-तीन छोटे बच्चो को साथ-साथ सुला देते हैं, पर यह उचित नहीं है। एक ओर मुँह करके सोने पर वे लोग एक दूसरे द्वारा श्वास में छोड़ी हुई वायु में साँस तो लेते ही हैं, साथ ही अच्छी प्रकार हाथ पैर फैला कर सो भी नहीं सकते। फलस्वरूप उन्हें शान्तिपूर्वक नींद नहीं आती जिससे भोजन नहीं पचता और उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता।

अतः शरीर को पूर्ण रूप से विश्राम देने और उसकी थकान दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि सोने के सम्बन्ध में ऊपर बतलाई हुई बातों का पूरा ध्यान रक्खा जाय, तभी स्वास्थ्य ठीक रह सकता है।

प्रश्न

(१) कोई काम करने के बाद मनुष्य थकान क्यों अनुभव करने लगता है?

(२) थकान दूर करने के क्या उपाय हैं?

(३) सोने का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है ?

(४) सोने के सम्बन्ध में किन नियमों का पालन करना चाहिए ?

(५) बड़े लोगों की अपेक्षा बालकों को अधिक देर सोने की आवश्यकता क्यों पड़ती है ?

(६) सोने का कमरा कैसा होना चाहिए ?

(७) स्वास्थ्य के लिए नींद क्यों आवश्यक है ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५३)

(८) "व्यायाम स्वास्थ्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना उत्तम भोजन" इस कथन को सिद्ध कीजिए। (हाई स्कूल परीक्षा, १९५२)

(९) व्यायाम की क्या उपयोगिता है ? व्यायाम करने का सबसे उपयुक्त समय कौन सा है ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५८)

(१०) व्यायाम करना क्यों आवश्यक माना जाता है ? (हाई स्कूल परीक्षा, १९५५)

पन्द्रहवाँ अध्याय

स्वास्थ्य और मादक वस्तुयें

संयमित जीवन का महत्त्व

संसार में अपने जीवन को सफल और सार्थक बनाने के लिये उत्तम स्वास्थ्य की सब से अधिक आवश्यकता होती है। अस्वस्थ मनुष्य अन्य सब साधन होते हुए भी संसार में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर सकता। इसके विपरीत स्वस्थ मनुष्य अड़चनों का सामना वीरता पूर्वक करते हुए संसार में अनेकों उपयोगी कार्य कर सकता है। संसार के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे कार्य में शारीरिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। हमारे शरीर में उचित मात्रा में शक्ति तभी होगी जब हमारा स्वास्थ्य ठीक होगा। विद्याध्ययन के लिये स्वास्थ्य चाहिये, धनोपार्जन के लिये स्वास्थ्य चाहिये, देश व समाज सेवा के लिये भी स्वास्थ्य का कम महत्त्व नहीं है। एक मनुष्य वकील बनना चाहे अथवा डाक्टर, वह अध्यापक बने अथवा क्लर्क या मजदूर, प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिये मनुष्य का स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है।

स्वास्थ्य को प्राप्त करना कठिन नहीं है। यदि हम स्वस्थ रहने का निश्चय कर लें तो रोग हमारे पास तक आ नहीं सकते। स्वस्थ रहने के लिये हमें अपना जीवन नियमित और संयमपूर्ण बनाना होगा। साथ ही स्वच्छता तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी पहले बतलाये गये सब नियमों का उचित रूप से पालन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। हमारी दिनचर्या नियमित होनी चाहिये। समय पर उठना, समय पर सोना और समय पर खाना यदि हम सीख लें तो हमें अपना स्वास्थ्य ठीक रखने में बहुत सहायता मिले। हमें चाहिये कि हम नियमित रूप से

खुली हवा में व्यायाम करें और स्वच्छता का पूरा ध्यान रखें। हमारा भोजन सयमित और सन्तुलित होना चाहिये। हमें अपने भोजन के पोषक तत्वों पर अधिक ध्यान देना चाहिये, उसके स्वाद पर नहीं। हरी तरकारियों और ताजे फलों का सेवन अधिक से अधिक तथा मिठाई-पकवान आदि गरिष्ट वस्तुओं का कम से कम करना चाहिये

इस प्रकार स्वास्थ्य के सम्बन्ध में उक्त बातों का ध्यान रखने के साथ साथ हमें एक बात का ध्यान और भी रखना चाहिये। समाज में कुछ ऐसी वस्तुओं का प्रचलन जो स्वास्थ्य की नींव को ऐसा हिला देती हैं कि फिर उसे सम्भाल सकना कठिन ही नहीं प्राय: असमव भी हो जाता है। ऐसी सब वस्तुयें मादक प्रभाव डालने वाली हैं, जैसे तम्बाकू, सिगरेट, चाय, शराब आदि। स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये इन सब से दूर रहना चाहिये।

मादक वस्तुओं के प्रभाव से मनुष्य की बुद्धि और चेतना शक्ति भी धीरे-धीरे क्षीण पड़ती जाती है और वह अपने पर नियंत्रण नहीं रख सकता। मादक वस्तुओं का अधिक उपयोग करने से मनुष्य का स्वास्थ्य तो नष्ट होता ही है नैतिक और सामाजिक पतन भी होता है। अत ऐसी हानिकर वस्तुओं से दूर रह कर संयमित जीवन बिताने से ही हम अपने जीवन को सुखी और आनन्दप्रद बना सकते हैं और जीवन में सफलता की ऊँची से ऊँची सीमा पर पहुँचने की भी आशा रख सकते हैं।

मादक वस्तुयें और उनका शरीर पर प्रभाव

संसार का इतिहास बतलाता है कि कुछ मादक वस्तुओं का उपयोग संसार के सभी देशों में किसी न किसी रूप में प्राचीन समय से होता आया है। वेद शास्त्रों का सोमरस भी एक प्रकार का मद्य (शराब) ही था। वर्तमान युग में तो मादक वस्तुओं की सख्या और उनका उपयोग बहुत ही बढ़ गया है। हम आगे प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में अलग-अलग विस्तार से बतलायेंगे। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ये सब वस्तुयें शरीर पर विनाशकारी प्रभाव डालती हैं और इस

प्रकार स्वास्थ्य को नष्ट करती हैं। अत स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये तथा अपने जीवन को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इन सब से दूर रहा जाय।

चाय—भारत में चाय पीने का प्रचलन नई सभ्यता की देन है। इधर इसका प्रचार गाँव-गाँव और घर-घर में हो गया है। चाय के पौधे की हरी पत्तियो को सुखा कर यह तैयार की जाती है। चाय में कैफीन (caffeine) तथा टैनिन (tannin) नामक दो पदार्थ होते हैं। कैफीन हमारे नाड़ी संस्थान में उत्तेजना उत्पन्न करता है। यही कारण है कि चाय पीने से लोगों को शरीर में फुर्ती और शक्ति अनुभव होती है। थोड़ी मात्रा में कैफीन द्वारा उत्पन्न उत्तेजना हानिकर नहीं है। विशेष शिथिलता अनुभव होने पर इस प्रकार की उत्तेजना प्राप्त करने के लिये चाय का उपयोग किया जा सकता है किन्तु अधिक मात्रा मे चाय का उपयोग हानिप्रद है। इसमें मौजूद टैनिन एक प्रकार का विष है और बहुत हानि पहुँचाता है। यह आमाशय की झिल्ली पर विशेष रूप से बुरा प्रभाव डालता है और साथ ही प्रोटीन-युक्त भोजन को अपाच्य बना देता है। चाय की पत्ती पानी में डालने के जितनी देर उपरान्त चाय पी जायगी उतना ही अधिक टैनिन शरीर मे प्रवेश करेगा। अतः प्रतिदिन इसके पीने की आदत डालना अपने स्वास्थ्य को नष्ट करना है। कभी-कभी रोगावस्था अथवा ठंढ में या कठिन परिश्रम के समय थोड़ी सी चाय पी जा सकती है। इन अवसरो पर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि चाय बनाते समय चाय की पत्ती अधिक देर तक पानी मे न पड़ी रहने दी जाय।

काफी या कहवा—काफी एक वृक्ष के बीज का चूर्ण होता है। चाय की ही भाँति यह भी तैयार की जाती है। हमारे देश में इसका प्रचलन कुछ समय पूर्व तक केवल दक्षिण भारत मे ही था, किन्तु अब तो हमारे प्रान्त में भी सभी बड़े बड़े शहरों में इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। इसमें भी चाय की ही भाँति कैफीन और टैनिन होते हैं, किन्तु इसमें चाय की अपेक्षा टैनिन की मात्रा कम

होती है। अतः यह चाय की अपेक्षा कम हानिकारक है। किन्तु इसका भी नियमित रूप से उपयोग करना स्वास्थ्य को नष्ट करना है।

कोको—कोको में विशेष मादक तत्व नहीं होते, अतः यह चाय व काफी की अपेक्षा अच्छा है।

शराब या मद्य—मद्य या शराब कई प्रकार की होती है। कुछ शराबों में मादक तत्व कम होते हैं और कुछ में अधिक। विदेशी शराबें कई प्रकार की होती हैं—बियर, ब्रांडी, ह्निस्की आदि। हमारा देशी ढंग से तैयार की गई शराबें ठर्रा, ताड़ी आदि कहलाती हैं और अधिक तीव्र होती हैं। सब प्रकार की शराबों में एलकोहल नामक मादक पदार्थ होता है जो मनुष्य के समस्त शरीर पर प्रभाव डालता है। यह थोड़ी मात्रा में मनुष्य की नाड़ियों को उत्तेजित करता है तथा कुछ सीमा तक हृदय को भी उत्तेजित करता है। साथ ही मनुष्य के मस्तिष्क में भी एक प्रकार की उत्तेजना का अनुभव होता है। किन्तु इस प्रकार की उपयोगी उत्तेजना का अनुभव तभी होता है जब मनुष्य बहुत ही थोड़ी मात्रा में मद्यपान करे। किन्तु सदा देखने में यही आता है कि मद्य पीने वाले औषधि की भांति थोड़ी सी मद्य से सन्तुष्ट नहीं होते, वरन काफी मात्रा में पीते हैं। जब अधिक मात्रा में मद्यपान किया जाता है तब उसका प्रभाव अवाञ्छनीय होता है। शरीर के समस्त अंगों व अवयवों में शिथिलता आ जाती है, मस्तिष्क की अनुभवशक्ति व चेतनाशक्ति नष्ट हो जाती है, बहुत अधिक मात्रा में पीने से तो मनुष्य मूर्छित ही हो जाता है। मनुष्य की चेतनाशक्ति शिथिल पड़ जाने के कारण ही शराबी लोग पागलों का सा व्यवहार करते पाये जाते हैं। शराब समस्त शरीर को शिथिल कर देती है। शराब पानी बहुत सोखती है। अतः यह शरीर के रक्त से जल को काफी मात्रा सोख लेती है। इस प्रकार शरीर में रक्त गाढ़ा होता जाता है और उसका बहाव ठीक से नहीं हो पाता। जल की कमी से त्वचा भी सूखी-सूखी हो जाती है। प्यास खूब लगती है और शरीर भर में जलन अनुभव होने लगती है। शराब पीने से मनुष्य का नैतिक पतन भी होता है।

मद्यपान से केवल पीने वाले एक ही मनुष्य का जीवन नष्ट नहीं होता, वरन् समस्त कुटुम्ब का जीवन दु खी हो जाता है। शराबी मनुष्य अपनी शराब क खर्च को पूरा करने के सामने कुटुम्बियों की आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करता, यहाँ तक कि उनके भोजन आदि की भी उसका चिन्ता नहीं होती। इसके अतिरिक्त वह मार-पीट आदि दुर्व्यवहार भी करता है। ऐसे मनुष्य के बच्चों पर भी बाल्यावस्था से बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी नहीं हो पाती। अतः वे भी समाज मे उन्नति नहीं कर पाते। इसके विरुद्ध वे पिता की बुरी आदतों को सीख कर अपना जीवन भी नष्ट करते हैं।

प्रत्येक देश की सरकार का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह ऐसी हानिप्रद वस्तुओ के निर्माण पर नियन्त्रण रखे। उत्तम कोटि की शराब व ब्राँडी आदि औषधि के रूप में काम में आने के लिए थोड़ी मात्रा में बननी चाहिए, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार यदि ये चीजें मिलेंगी ही नहीं तो इनके प्रचार की संभावना भी नहीं रहेगी। हर्ष की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारी प्रान्तीय सरकारें मद्यपान बन्द करने की ओर ध्यान दे रही हैं।

भाँग—भाँग के पौधे की हरी पत्तियों को पीसकर खाया जाता है। सब स्थानों पर सब समय हरी पत्तियाँ नहीं मिल सकती, अत इसकी पत्तियाँ सुखा कर बेची जाती हैं। धनी लोग तो भाँग की पत्तियाँ बादाम और ठढाई के साथ पीस कर और छान कर पीते हैं। शीत ऋतु में ठढाई नहीं पी जा सकती, अत. बादाम आदि के सहित उसे पीस कर यों ही खा लेते हैं। निर्धन लोग अकेली पत्तियाँ ही पीस कर खाते हैं। भाग शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। मस्तिष्क पर भी इसका मादक प्रभाव पड़ता है।

गाँजा, चरस आदि—इन मादक वस्तुओं को चिलम में रखकर धूम्रपान किया जाता है। धूम्रपान की हानियों के साथ-साथ इनके मादक प्रभाव के कारण स्वास्थ्य एकदम नष्ट हो जाता है। अधिक मात्रा में इनका सेवन जीवन को असह्य बना देता है।

होती है। अत यह चाय की अपेक्षा कम हानिकारक है। किन्तु इसका भी नियमित रूप से उपयोग करना स्वास्थ्य को नष्ट करना है।

कोको—कोको में विशेष मादक तत्त्व नहीं होते, अत यह चाय व काफी की अपेक्षा अच्छा है।

शराब या मद्य—मद्य या शराब कई प्रकार की होती है। कुछ शराबों में मादक तत्त्व कम होते हैं और कुछ में अधिक। विदेशी शराबें कई प्रकार की होती हैं—बियर, ब्रांडी, ह्विस्की आदि। हमारी देशी ढंग से तैयार की गई शराबें ठर्रा, ताड़ी आदि कहलाती हैं और अधिक तीव्र होती हैं। सब प्रकार की शराबों में एलकोहल नामक मादक पदार्थ होता है जो मनुष्य के समस्त शरीर पर प्रभाव डालता है। यह थोड़ी मात्रा में मनुष्य की नाड़ियों को उत्तेजित करता है तथा कुछ सीमा तक हृदय को भी उत्तेजित करता है। साथ ही मनुष्य के मस्तिष्क में भी एक प्रकार की उत्तेजना का अनुभव होता है। किन्तु इस प्रकार की उपयोगी उत्तेजना का अनुभव तभी होता है जब मनुष्य बहुत ही थोड़ी मात्रा में मद्यपान करे। किन्तु सदा देखने में यही आता है कि मद्य पीने वाले औषधि की भाँति थोड़ी सी मद्य से सतुष्ट नहीं होते, वरन् काफी मात्रा में पीते हैं। जब अधिक मात्रा में मद्यपान किया जाता है तब उसका प्रभाव अवाछनीय होता है। शरीर के समस्त अगों व अवयवों में शिथिलता आ जाती है, मस्तिष्क की अनुभवशक्ति व चेतनाशक्ति नष्ट हो जाती है, बहुत अधिक मात्रा में पीने से तो मनुष्य मूर्छित ही हो जाता है। मनुष्य की चेतनाशक्ति शिथिल पड़ जाने के कारण ही शराबी लोग पागलों का सा व्यवहार करते पाये जाते हैं। शराब समस्त शरीर को शिथिल कर देती है। शराब पानी बहुत सोखती है। अत यह शरीर के रक्त से जल की काफी मात्रा सोख लेती है। इस प्रकार शरीर में रक्त गाढ़ा होता जाता है और उसका बहाव ठीक से नहीं हो पाता। जल की कमी से त्वचा भी सूखी-सूखी हो जाती है। प्यास खूब लगती है और शरीर भर में, जलन अनुभव होने लगती है। शराब पीने से मनुष्य का नैतिक पतन भी होता है।

मद्यपान से केवल पीने वाले एक ही मनुष्य का जीवन नष्ट नहीं होता, वरन् समस्त कुटुम्ब का जीवन दुःखी हो जाता है। शराबी मनुष्य अपनी शराब के खर्च को पूरा करने के सामने कुटुम्बियों की आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करता, यहाँ तक कि उनके भोजन आदि की भी उसको चिन्ता नहीं होती। इसके अतिरिक्त वह मार-पीट आदि दुर्व्यवहार भी करता है। ऐसे मनुष्य के बच्चों पर भी बाल्यावस्था से बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी नहीं हो पाती। अतः वे भी समाज में उन्नति नहीं कर पाते। इसके विरुद्ध वे पिता की बुरी आदतों को सीख कर अपना जीवन भी नष्ट करते हैं।

प्रत्येक देश की सरकार का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह ऐसी हानिप्रद वस्तुओं के निर्माण पर नियन्त्रण रखे। उत्तम कोटि की शराब व ब्रॉडी आदि औषधि के रूप में काम में आने के लिए थोड़ी मात्रा में बननी चाहिए इससे अधिक नहीं। इस प्रकार यदि ये चीजें मिलेंगी ही नहीं तो इनके प्रचार की सम्भावना भी नहीं रहेगी। हर्ष की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारी प्रान्तीय सरकारें मद्यपान बन्द करने की ओर ध्यान दे रही हैं।

भाँग—भाँग के पौधे की हरी पत्तियों को पीसकर खाया जाता है। सब स्थानों पर सब समय हरी पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं, अतः इनकी पत्तियाँ सुखा कर बेची जाती हैं। धनी लोग तो भाँग की पत्तियाँ बादाम और ठंडाई के साथ पीस कर और छान कर पीते हैं। शीत ऋतु में ठंडाई नहीं पी जा सकती, अतः बादाम आदि के सहित उसे पीस कर यों ही खा लेते हैं। निर्धन लोग अकेली पत्तियाँ ही पीस कर खाते हैं। भाँग शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। मस्तिष्क पर भी इसका मादक प्रभाव पड़ता है।

गाँजा, चरस आदि—इन मादक वस्तुओं को चिलम में रखकर धूम्रपान किया जाता है। धूम्रपान की हानियों के साथ-साथ इनके मादक प्रभाव के कारण स्वास्थ्य एकदम नष्ट हो जाता है। अधिक मात्रा में इनका सेवन जीवन को असह्य बना देता है।

अफीम—अफीम एक मादक वस्तु है। इसकी मात्रा अधिक होने से मृत्यु हो जाती है। इसका विष काफी तीव्र होता है। अन्य विषों की अपेक्षा यह सुगमता से मिल सकती है, इस कारण अधिकतर आत्महत्या करने के लिए लोग इसका उपयोग करते हैं। इतनी घातक चीज होते हुए भी यह एक उत्तम औषधि है। निमोनिया में अथवा यों ही ठंड से बालक की पसलियों अथवा अन्य किसी अङ्ग पर दर्द हो तो अफीम मलकर सेंक देने से बड़ी शीघ्रता से पीड़ा दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकार की दवाइयों में इसका उपयोग होता है। अत्यधिक पीड़ा से विकल मनुष्य को शान्ति देने के लिए अफीम से प्राप्त मारफिया के इंजेक्शन देकर सुलाया जाता है। उत्तम औषधि होते हुये भी इसका नियमित रूप से सेवन करना अत्यधिक हानिकर है। इसके सेवन से शरीर शिथिल पड़ जाता है और बुद्धि भी कुण्ठित होने लगती है। मद्य की भाँति इसकी आदत डालना भी अत्यन्त अहितकर होता है। निर्धन मजदूर वर्ग की स्त्रियाँ जब काम पर जाती हैं तो अपने छोटे बच्चों को थोड़ी सी अफीम खिला देती हैं। अफीम के नशे में बालक चुपचाप सोता रहता है। वे अशिक्षित स्त्रियाँ यह नहीं जानतीं कि अपनी थोड़ी सी परेशानी बचाने के लिए वे अपने बच्चों का स्वास्थ्य स्वयं अपने हाथों नष्ट कर रही हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि असावधानी के कारण बालकों को अफीम की मात्रा कुछ ज्यादा दे देने से उनकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार अज्ञान मातायें स्वयं अपने बालकों की मृत्यु का कारण बनती हैं। यदि वे अफीम के दुष्परिणामों को समझ सकतीं तो कदापि अपने बच्चों को अफीम न देतीं।

पान, तम्बाकू और धूम्रपान—पान खाने का प्रचलन भारत में बहुत अधिक है। पान में जो चूना खाया जाता है वह लाभप्रद होता है, किन्तु सुपारी का अधिक उपयोग हानिकर होता है। पान अधिक मात्रा में खाने से दाँत नष्ट होते हैं। यदि भोजन के बाद एक बीड़ा पान खा लिया जाय अथवा दिन भर में दो या तीन पान खाये जायँ तो हानि नहीं होगी। पर देखने में यही आता है कि या तो लोग पान खाते ही नहीं हैं और यदि खाते हैं तो उनकी ऐसी आदत पड़

जाती है कि दिन मे २०-२५ बीड़ा या इससे भी अधिक खाते हैं। प्रत्येक क्षण उनके मुख मे पान होना चाहिये। बहुतों को तो रात में सोते समय भी मुख मे पान चाहिए। इस प्रकार आदत के रूप में पान खाने वाले उसमें तम्बाकू भी खाते हैं। बिना तम्बाकू के पान खाने वालों को उसकी लत नहीं पड़ती। वास्तव में आदत तो तम्बाकू की पड़ती है, पान तो तम्बाकू खाने का एक साधन है। तम्बाकू में निकोटीन (nicotine) नामक विष होता है जो स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुँचाता है। अत. अधिक पान खाने वालों को क्षति पहुँचाने वाला स्वय पान नहीं होता, वरन् उसके साथ खाई जाने वाली तम्बाकू होती है।

निकोटीन हृदय पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। यदि तम्बाकू से निकोटीन को शुद्ध रूप में अलग करके उसकी कुछ बूंदे ही स्वस्थ मनुष्य को दे दी जायँ तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाय।

तम्बाकू का उपयोग करने की दूसरी विधि धूम्रपान है। तम्बाकू खाने की अपेक्षा धूम्रपान अधिक हानिकर है। चिलम द्वारा तम्बाकू पीने की प्रथा तो पुरानी चली आ रही है, पर नई सभ्यता के साथ सिगरेट, सिगार आदि चीजों का प्रचलन भी खूब बढ़ गया है। इनके धुयें में निकोटीन रहता है और यह हृदय पर बुरा प्रभाव डालता है। इससे हृदय और श्वास की गति बढ़ जाती है। गले में खराबी उत्पन्न हो जाने से सदा खाँसी उठा करती है। निकोटीन के मादक प्रभाव के कारण सब नाड़ियों व मस्तिष्क की चेतना-शक्ति शिथिल पड़ जाती है और उस मनुष्य मे सोच विचार करने की शक्ति नहीं रह जाती। तम्बाकू का सेवन करने वाले जो यह कहते हैं कि तम्बाकू से उनकी सब चिन्तायें और कष्ट दूर हो जाते हैं वह वास्तव में उनकी चेतनाशक्ति का क्षीण होना है।

धूम्रपान राष्ट्र जीवन के लिए अत्यधिक अहितकर होते हुए भी दिन पर दिन अधिक प्रचलित होता जा रहा है। लोग इसे सभ्यता की निशानी समझने लगे हैं। स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों मे इसका प्रचलन बहुत बढ़ रहा है। यह अत्यन्त खेद की बात है और इसे रोकने का कुछ उपाय अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न

(१) हमारी आदतों का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है ?

(२) चाय, कहवा, भाँग और तम्बाकू मादक वस्तुयें क्यों कही जाती हैं ? इनका स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(३) शराब का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(४) धूम्रपान स्वास्थ्य के लिये बुरा क्यों माना गया है ?

(५) अफ़ीम के लाभ और हानियाँ क्या हैं ?

सोलहवाँ अध्याय

संक्रामकता, रोगक्षमता तथा रोगों से बचने के उपाय

छूत के रोग

वे सभी रोग जो रोगी के पास उठने-बैठने, उसके साथ खाने-पीने आदि से होते हैं, छूत के रोग कहलाते हैं। इनके कुछ उदाहरण ये हैं—तपेदिक, खुजली, हैजा, खाँसी आदि।

छूत के रोग जीवाणुओं द्वारा फैलते हैं। इन रोगों के जीवाणु मुख्यतः दो प्रकार से फैलते हैं। इसी आधार पर छूत के रोगों को दो प्रकार में बाँटा जाता है:-(१) संसर्गज (contagious) तथा (२) संक्रामक (infectious)।

संसर्गज रोग—संसर्गज रोग वे रोग हैं जिनकी छूत रोगी के संसर्ग में आने से अर्थात् उसके साथ उठने-बैठने, खाने-पीने तथा उसके वस्त्र पहिनने आदि से होती है। खुजली, दाद, आँख दुखना, अपरस आदि संसर्गज रोगों के उदाहरण हैं।

इन रोगों के जीवाणु रोगी के कपड़ों में लग जाते हैं। उन वस्त्रों का प्रयोग करने वाले के शरीर में वे जीवाणु पहुँचकर रोग फैलाते हैं। खुजली, दाद आदि में रोगी के शरीर को छूने से भी रोग के जीवाणु स्वस्थ मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते हैं।

संक्रामक रोग—अधिकतर रोगों के जीवाणु रोगी के वमन, थूक अथवा मल-मूत्र में पाये जाते हैं। सफाई का उचित प्रबन्ध न होने से मक्खियाँ इस गन्दगी पर बैठती हैं। उनके पैरों तथा परों में बहुत से जीवाणु चिपक जाते हैं।

वहाँ से उड़ने पर जब फिर ये ही मक्खियाँ हमारे भोजन पर बैठती हैं तो जीवाणु भोजन में पहुँच जाते हैं। इस दूषित भोजन को खाने से स्वभावतः खाने वाले को रोग हो जाता है। मियादी बुखार, हैजा, पेचिस, तपेदिक आदि रोग इसी प्रकार फैलते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रोगों में रोगी के श्वास के साथ रोग के जीवाणु भी बाहर निकलते हैं। ऐसे रोगी के अति निकट बैठकर श्वास लेने से जीवाणुओं के हमारे शरीर में प्रवेश करने की सभावना रहती है। इस प्रकार जीवाणुओं द्वारा फैलने वाले रोग ही, जिनके जीवाणु किसी दूसरे माध्यम द्वारा फैलते हैं, सक्रामक रोग कहलाते हैं। भोजन, पानी आदि की भाँति कुछ पशु और कीड़े जैसे मच्छर, खटमल आदि भी सक्रामक रोगों को फैलाते हैं। रोगी के शरीर से जीवाणु लेकर ये उन्हें दूसरों के शरीर में पहुँचाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सक्रामक रोग चार प्रकार से फैलते हैं। इसी आधार पर इन्हें निम्न चार प्रकार में बाँटा जाता है—

(१) वायु द्वारा फैलने वाले रोग (air borne diseases)—कुछ रोगों के जीवाणु वायु के माध्यम द्वारा फैलते हैं। जिस वायु में रोग के जीवाणु उपस्थित होते हैं उसमें साँस लेने से हम भी रोगग्रस्त हो जाते हैं। वायु द्वारा फैलने वाले रोगों में मुख्य ये हैं—चेचक (chicken pox), खसरा (measles), कुकुर खाँसी (whooping cough), डिप्थीरिया (diphtheria), निमोनिया तथा तपेदिक।

(२) जल द्वारा फैलने वाले रोग (water borne diseases)—हैजा, पेचिस, मियादी बुखार, गठिया आदि रोगों के जीवाणु मक्खी तथा अन्य कीड़ों द्वारा पानी में पहुँच जाते हैं। इस पानी को पीने से ये रोग फैलते हैं।

(३) दूध और भोजन द्वारा फैलने वाले रोग—(milk and food borne diseases)—मक्खियों द्वारा रोगों के जीवाणु हमारे भोजन व दूध में पहुँचते हैं। ऐसे दूषित भोजन या दूध का सेवन करने से रोग हो जाता है। हैजा, टायफायड, पेचिस, तपेदिक आदि ऐसे रोग हैं।

(४) कीड़ों द्वारा फैलने वाले रोग (insect borne diseases)—कुछ रोगों के जीवाणु फैलाने में विशेष कीड़े भाग लेते हैं। मलेरिया के जीवाणु फैलाने का काम मच्छर करता है और प्लेग फैलाने का पिस्सू। खटमल, जूँ आदि भी रोग फैलाने में बहुत सहायता करते है। ये कीड़े जब किसी रोगी को काटते हैं तो उसके रक्त के साथ रोग के जीवाणु भी चूस लेते हैं। फिर वे जब किसी स्वस्थ मनुष्य को काटते हैं तो उसके रक्त में इन जीवाणुओं को पहुँचा देते हैं। इस प्रकार रोग के जीवाणुओं के रक्त में पहुँच जाने से हमें रोग हो जाता है।

रोग वाहक—कुछ व्यक्तियो में रोग होने के काफी दिन बाद तक रोग के जीवाणु शरीर में पलते रहते हैं और फलस्वरूप वे स्वस्थ दीखने पर भी रोग फैलाने का साधन सिद्ध होते हैं। इसी से इन्हें 'रोग वाहक' (disease carriers) व्यक्ति कहते हैं।

सक्रामक रोग सदा एक सी तीव्रता से नहीं फैलते। कभी तो शहर में एक या दो घटना होकर ही रह जाती है और कभी रोग समस्त शहर में फैल जाता है। इस दृष्टि से सक्रामक रोगों को चार श्रेणियों में बाँटा जाता है :—

(१) द्रुत सक्रामक (epidemic)—रोग का वह रूप है जब रोग किसी गाँव या शहर में तेजी से फैले, जैसे हैजा या प्लेग।

(२) स्थानीय सक्रामक (endemic)—रोग का वह रूप है जब रोग किसी स्थान विशेष की स्थिति के अनुसार वहाँ सदा ही होता रहे, जैसे दलदल युक्त स्थानों में मलेरिया।

(३) आकस्मिक तथा वैयक्तिक सक्रामक (sporadic)—रोग का वह रूप है जब रोग तेजी से न फैलकर इधर-उधर एक दो लोगों को होता रहे, जैसे डिप्थीरिया और निमोनिया।

(४) विश्वव्यापी संक्रामक (pandemic)—रोग का वह रूप है जब रोग इतनी तेजी से फैले कि एक साथ ही ससार के दूर-दूर देशों में भी अपना प्रकोप दिखला दे, जैसे इन्फ्लुएञ्जा।

रोग कैसे होते हैं ?—जब किसी संक्रामक रोग के जीवाणु हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं तो उन्हें अपने भोजन के लिये उपयुक्त और पर्याप्त सामान मिल जाता है। शरीर मे प्रवेश तो थोड़े से ही जीव करते हैं, पर वहाँ वृद्धि कर शीघ्र ही ये हजारों लाखों की संख्या में हो जाते हैं। कुछ जीवाणु तो जिस स्थान पर पहुँचते हैं वहीं पर रोग उत्पन्न करते हैं जैसे फोड़ा, फुंसी, दाद आदि। अन्य जीवाणु शरीर में पहुँच कर एक विशेष प्रकार का विष (toxin) उत्पन्न करते हैं। यह विष ही हमारे सारे शरीर में फैलकर रोग उत्पन्न करता है।

जब रोग के जीवाणु हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं तो उनमें और हमारे शरीर के श्वेत रक्तकणों में बड़ा संघर्ष होता है। श्वेत रक्तकण इन बाहर के जीवाणुओं को मारकर नष्ट कर देना चाहते हैं और ये जीवाणु श्वेत कणों को मारकर हमारे शरीर में अपने लिये स्थान बनाना चाहते हैं। यदि श्वेत रक्तकण विजयी होते हैं तो हमें रोग नहीं हो पाता। इसके विपरीत यदि रोग के जीवाणु सफल होते हैं तो हम रोगग्रस्त होते हैं। रोग होने पर भी यह संघर्ष बराबर चलता ही रहता है। यदि अन्त में हमारे श्वेत रक्तकण विजयी हो जाते हैं तो रोग नष्ट हो जाता है और हम निरोग हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि श्वेत रक्तकण बिल्कुल हार जाते हैं तो रोग के विजयी जीवाणुओं का प्रभाव बड़ा तीव्र होता है और फल-स्वरूप रोगी की मृत्यु हो जाती है।

रोग-प्रवृत्ति—जिस समय हमारा शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है उस समय यदि जीवाणु उसमें प्रवेश करते हैं तो वे रक्तकणों से हार ही जाते हैं और इस प्रकार रोग उत्पन्न करने में असफल होते हैं। पर यदि किसी कारण से हमारा स्वास्थ्य कुछ भी गिरा हुआ हो तो रोग उत्पन्न करने में जीवाणु सुगमता से सफल हो जाते हैं। उस समय हमारे रक्तकणों में उन्हें परास्त करने की शक्ति नहीं होती। शरीर की ऐसी अवस्था को रोग प्रवृत्ति (predisposition to diseases) कहते हैं।

सम्प्राप्तिकाल (period of incubation)—रोगों के जीवाणु शरीर में प्रवेश करते ही रोग उत्पन्न करने में सफल नहीं होते। शरीर में पहुँच कर

उनकी संख्या बढ़ती है और वे विषयुक्त पदार्थ उत्पन्न करते हैं। यह विष ही रोग उत्पन्न करता है। जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश करने और रोग आरम्भ होने के बीच का समय सम्प्राप्तिकाल कहलाता है। विभिन्न रोगों के जीवाणुओं के बढ़ने और विष उत्पन्न करने की शक्ति भिन्न होती है। अतः भिन्न भिन्न रोगो का सम्प्राप्तिकाल भिन्न होता है। साधारणत यह समय २४ घंटे से लेकर १४-१५ दिन तक होता है।

रोगक्षमता (immunity)

हम देखते हैं कि हमारे आसपास के वातावरण में प्रत्येक स्थान पर रोग के जीवाणु पाये जाने की सभावना रहती है। कुटुम्बियों, मित्रो व पड़ोसियों के यहाँ रोगियों के सम्पर्क मे प्राय. आना पड़ता है। फिर भी कुछ लोगों का स्वास्थ्य सदा बहुत अच्छा बना रहता है। इसका कारण क्या है? वास्तव में बात यह है कि जैसे रुचि, प्रकृति और प्रवृत्ति में प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य को भिन्न बनाया उसी प्रकार स्वास्थ्य और जीवनशक्ति (vitality) में भी प्रत्येक मनुष्य में अतर होता है। कुछ लोगों का स्वास्थ्य जन्म से ही अच्छा होता है। उनमें जीवनशक्ति भी अधिक होती है। इससे हमारा तात्पर्य यही है कि उनके रक्तकण बहुत शक्तिशाली होते हैं। जब कभी रोग के जीवाणु उनके शरीर मे प्रवेश करते हैं तब उनके रक्तकण उन्हें नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार ये मनुष्य रोगा से बच जाते हैं। यदि कभी जीवाणु बहुत अधिक सख्या में प्रवेश करते हैं अथवा अत्यधिक शक्तिशाली होते हैं तो वे रक्तकणों द्वारा तुरन्त पूर्णत· नष्ट नहीं हो पाते। ऐसी दशा में बचे हुए जीवाणु शरीर में रहकर रोग उत्पन्न करते हैं। इन्हें अधिक बढ़ने का अवसर नहीं मिलता और रोग अधिक तीव्र नहीं हो पाता, शीघ्र ही अच्छा हो जाता है। शरीर की यह रोगनाशक शक्ति ही रोगक्षमता कहलाती है।

रोगक्षमता दो प्रकार की होती है—प्राकृतिक और कृत्रिम

प्राकृतिक रोगक्षमता—ऊपर हम शरीर की जिस रोगनाशक शक्ति का वर्णन कर आये हैं वही प्राकृतिक रोगक्षमता है। यह बलवान और स्वस्थ शरीर

में अधिक होती है और प्रायः बचपन से ही पाई जाती है। गंदे स्थानों में रहने अधिक गर्मी-सर्दी से बचाव न करने, भूखे रहने अथवा अत्यधिक परिश्रम करते रहने से मनुष्य का स्वास्थ्य खराब हो जाता है और फलस्वरूप शरीर की प्राकृतिक रोगक्षमता भी घट जाती है।

इस रोगक्षमता के सम्बन्ध में एक विशेषता और है। प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक रोग के प्रति रोगक्षमता हो यह आवश्यक नहीं। जिस मनुष्य के शरीर में टायफायड के जीवाणु कोई भी प्रभाव न उत्पन्न कर सकें उसे ही मलेरिया प्रायः हो सकता है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य के शरीर में विभिन्न रोगों के लिये विशेष रूप से रोगक्षमता होती है। कुछ लोगों में विशेष रोगों के लिये ही रोगक्षमता होती है। कुछ जातियों में भी कुछ रोगों के प्रति रोगक्षमता पाई जाती है, जैसे नीग्रो लोगों में पीत ज्वर नहीं होता। पशुओं में भी यह विशेषता पाई जाती है, जैसे बकरे को यक्ष्मा (तपेदिक) होते कभी नहीं देखा गया।

कृत्रिम रोगक्षमता—कृत्रिम रोगक्षमता शरीर में दो प्रकार से उत्पन्न होती है—(१) एक बार रोग हो जाने से तथा (२) टीका अथवा इन्जेक्शन लगाने से।

(१) प्रायः देखा जाता है कि कुछ रोग एक बार हो जाने पर फिर दुबारा नहीं होते। यदि कभी ऐसा हो भी जाता है तो उनका प्रकोप बढ़ने नहीं पाता। टायफायड, चेचक आदि रोगों के सम्बन्ध में यह विशेष रूप से कहा जा सकता है। ऐसा क्यों होता है? एक बार इन रोगों के होने के बाद शरीर में इनके प्रति रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है और इसी से दुबारा रोग नहीं हो पाता। यह रोगक्षमता दो प्रकार से उत्पन्न होती है। यह तो हम पहले कह चुके हैं कि जब जीवाणु नष्ट हो जाते हैं तभी रोग अच्छा होता है। प्रायः ऐसा होता है कि रोग अच्छा होने पर भी कुछ जीवाणु नष्ट होने से बच जाते हैं पर वे इतने बलवान नहीं होते कि रोग फिर से उत्पन्न कर सकें। ऐसे जीवाणु हमारे शरीर में रहकर वहीं पलने लगते हैं। जब बाहर से अन्य जीवाणु प्रवेश करते हैं तो वे भी उन्हें बाहरी समझकर उन्हें परास्त करने में हमारे रक्तकणों की सहायता करते हैं

इस प्रकार हमारे रक्तकणों को भी विजय प्राप्त करने में सुगमता हो जाती है और हम फिर से रोगग्रस्त होने से बच जाते हैं।

जब हमे कोई रोग होता है तो उस रोग के विष को नष्ट करने के हेतु हमारे शरीर में प्रति विष (anti-toxin) उत्पन्न होता है। प्रत्येक रोग के विष को नष्ट करने के लिए भिन्न प्रतिविष होता है। कोई भी रोग होने पर उस रोग का प्रतिविष हमारे रक्त में बनता है। प्रतिविष की मात्रा पर्याप्त हो जाने पर ही रोग का विष नष्ट होता है और तभी हमें उस विशेष रोग से छुटकारा मिलता है। इस प्रकार एक बार उत्पन्न हुआ प्रतिविष रक्त में बराबर उपस्थित रहता है और भविष्य में उस विशेष रोग के आक्रमण से हमारी रक्षा करता है।

(२) प्रत्येक रोग के लिए रोगक्षमता बिना रोगग्रस्त हुए भी कृत्रिम रूप से उत्पन्न की जा सकती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य के रक्त में उस रोग विशेष के विष का प्रतिविष उत्पन्न किया जाय या पहुँचाया जाय। टीका (vccination) या इजेक्शन द्वारा ही यह सभव हो सकता है। प्रत्येक रोग के लिये वैज्ञानिक विधि से प्रतिविष तैयार किये जाते हैं और फिर इजेक्शन द्वारा ये शरीर में पहुँचाये जाते हैं। जिस रोग का प्रतिविष शरीर में पहुँचाया जाता है उस रोग के विरुद्ध ही यह शरीर में रोगक्षमता उत्पन्न करता है। इस प्रकार कृत्रिम रूप से हम विभिन्न रोगों के विरुद्ध रोगक्षमता प्राप्त कर सकते हैं। साधारणतया चेचक, टायफायड और प्लेग के लिये इस प्रकार से रोगक्षमता प्राप्त की जाती है।

रोगों से स्वयं को बचाने के उपाय

अपने को बीमारी से बचाने के लिये स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वच्छता से रहने, स्वच्छ भोजन और स्वच्छ जल का सेवन करने से जल्दी कोई बीमार नही होता। रोग को होने से रोक सकना सरल है, किन्तु एक बार रोग हो जाने पर उसे दूर करना कठिन होता है। साथ ही

रोग में कष्ट होता है और दवा आदि में व्यय भी होता है। अतः मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि उसे रोग होने ही न पाये।

घर बाहर की सफाई तथा शरीर व वस्त्रों की स्वच्छता रखने से और खान-पान व विश्राम आदि स्वास्थ्य की सभी आवश्यक बातों पर ध्यान देने से मनुष्य अपने को रोगी होने से बचा सकता है। यदि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने स्वार्थ के लिये भी सफाई आदि का ध्यान रखे तो भी शहर की सफाई बहुत अंशों में हो जाती है। किन्तु अपढ़ अथवा साधनरहित लोगों से हम इतनी सफाई की आशा नहीं कर सकते। यदि हमारे चारों ओर का वातावरण गन्दगीपूर्ण हो तो हम चाहे जितना भी बच कर रहने की चेष्टा क्यों न करें रोग लगने की संभावना रहती है। वायु, जल आदि द्वारा रोग के जीवाणु पहुँच कर सफाई के सारे परिश्रम को निष्फल सिद्ध कर देते हैं। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने हित के लिये अपनी सफाई आदि का ध्यान रखने के साथ-साथ अपने मोहल्ले और शहर की सफाई का भी ध्यान रखे। सभी शहरों में यह काम म्युनिसिपैलिटी का होता है। पर कोई भी म्युनिसिपैलिटी अपने उद्देश्य में जनता के सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकती। अतः विशेषरूप से संक्रामक रोग शहर में आरम्भ होते ही शहर को उसके प्रकोप से बचाने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि शहर में कोई बीमारी फैलती है तो हमें भी रोग होने की संभावना रहती है। अतः यदि समाज की भलाई की दृष्टि से नहीं, तो भी अपने और अपने कुटुम्बियों के हित के लिए ही हमें शहर में संक्रामक रोगों को फैलने से रोकना चाहिए।

रोगों को फैलने से रोकने के उपाय

सफाई के अतिरिक्त अन्य कुछ साधनों का आश्रय लेना भी आवश्यक होता है। नीचे इन साधनों का सक्षेप में वर्णन किया गया है :—

सूचना—जब किसी के घर में एक भी प्राणी को कोई संक्रामक रोग हो तो उसका सर्वप्रथम और मुख्य कर्त्तव्य रोगी की किसी अच्छे डाक्टर से चिकित्सा

कराना है। इसके अतिरिक्त उस घर के मुखिया का यह भी धर्म है कि वह इस बीमारी की सूचना शहर की म्यूनिसिपैलिटी के डाक्टर (health officer) को दे दे। इस प्रकार की सूचना मिल जाने से वह अधिकारी शहर में रोग को संक्रामक रूप से फैलने से रोकने का पूरा प्रयत्न कर सकेगा। इसके अतिरिक्त म्यूनिसिपैलिटी का भी कर्त्तव्य है कि वह शहर के सब लोगों को इस बात की सूचना दे कि अमुक मोहल्ले में अमुक संक्रामक रोग हुआ है। लोग सफाई, खानपान आदि का विशेष ध्यान रखें अन्यथा शहर में बीमारी संक्रामक रूप से फैल सकती है। हैजे के दिनों में बाजार की मिठाई खाने के विरुद्ध प्रचार करना, मलेरिया के दिनों में मच्छरों को मारने का प्रयत्न, इसके उदाहरण हैं।

रोगी को एकान्त में रखना (isolation)—संक्रामक रोग के रोगी को घर में रखने से अन्य लोगों के लिए भी डर रहता है। इसके अतिरिक्त अस्पताल में रोगी प्रत्येक समय डाक्टरों और शिक्षित नर्सों के निरीक्षण में रहता है। अस्पताल में इलाज और दवा आदि का प्रबन्ध भी उत्तमता और सुगमता से हो जाता है। अतः जहाँ तक हो सके संक्रामक रोग के रोगी को संक्रामक रोगों के विशेष अस्पताल (infectious diseases hospital) में तुरन्त भेज देना चाहिए। रोगी तथा घर के अन्य सब लोगों के लिए यही अच्छा है।

किसी अच्छे अस्पताल के अभाव में अथवा अन्य किसी विशेष कारण से ऐसे रोगी को यदि घर में ही रखना पड़े तो बड़ी सावधानी से काम लेने की आवश्यकता होती है। रोगी को अन्य लोगों के रहने व सोने के कमरों से अलग किसी कमरे में रखना चाहिए। रोगी का कमरा खूब हवादार तथा ऐसा होना चाहिए जिसमें धूप भी पर्याप्त मात्रा में आती हो। नर्स या रोगी की देख-रेख रखने वाले एक दो प्राणियों के अतिरिक्त रोगी के साथ अन्य लोगों को न रहना चाहिए। बच्चों के बचाव का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए। रोगी के व्यवहार में आने वाले कपड़े, बर्तन आदि सब अलग होने चाहिये।

घर में रोगी के रहने पर उसके थूक, वमन, मल-मूत्र आदि को हटवाने और जलवा देने का भी समुचित प्रबन्ध रखना आवश्यक है, अन्यथा रोग फैलने का

बचने के लिए मानता-मनौती और पूजापाठ करते हैं। इन कारणों से असख्य लोग बिना उपचार के तथा बिना दवा और देख-भाल के ही अकाल-मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं। शिक्षा के अभाव और इस धर्मान्धता के कारण ही सक्रामक रोगों के फैलने पर जनता आवश्यकता से अधिक भयग्रस्त हो जाती है। लोग एकदम बेचैन हो उठते हैं और बहुत से तो अपना नगर छोड़ कर भी भाग जाते हैं। अत म्यूनिसिपेलिटियों का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इन रोगो के सम्बन्ध मे अपने शहर की जनता का ज्ञान बढ़ाये। लोगों को बीमारी के कारण, उपचार और बचने के उपाय समझाने चाहिए। यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि एक विशेष ढङ्ग से कुछ चीजो से परहेज करके और सफाई से रहकर वे उस शहर मे रहते हुए भी बीमारी से बच सकते हैं तो वे इतने भयभीत भी न होंगे और अपने बचाव के लिए उचित उपाय भी करेंगे। इससे रोग की सक्रामकता को नष्ट करने में म्यूनिसिपेलिटी को सहायता मिलेगी।

विसक्रामण—रोग के जीवाणुओं का नाश करना ही विसक्रामण है। जिन पदार्थों का इस कार्य के लिए उपयोग होता है वे विसक्रामक (disinfectants) कहलाते हैं। ये पदार्थ जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं, अतः रोग होने की कोई सभावाना नहीं रहती। विसक्रामक पदार्थों को जीवाणुनाशक पदार्थ भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो जीवाणुओं को मार तो नहीं पाते किन्तु उन्हें शरीर में प्रवेश करने व बढ़ने से रोकते हैं। इन्हें जीवाणुरोधक या प्रतिपूय (antiseptics) पदार्थ कहते हैं। इनमें बोरिक एसिड, फिटकिरी, स्पिरिट, एलकोहल, मिट्टी का तेल आदि सम्मिलित हैं। वास्तव में सभी जीवाणुनाशक पदार्थ जीवाणुरोधक का काम भी करते हैं।

आपने प्रायः देखा होगा कि लोग कुओं की सफाई के लिये एक लाल रंग की दवा—पोटैसियम परमैंगनेट—डालते हैं। यह एक विसक्रामक दवा है जो पानी के जीवाणुओं को नष्ट कर देती है। इस प्रकार पानी की सफाई करना पानी का विसक्रामण करना कहलाता है। इसी तरह रोगी के कमरे, वस्त्र, बर्तन आदि का विसक्रामण कर देने से रोग फैलने का डर नहीं रहता।

विसंक्रामक वस्तुयें तीन प्रकार की होती हैं—

(१) प्राकृतिक

(२) भौतिक

(३) रसायनिक

प्राकृतिक विसंक्रामक

प्राकृतिक विसंक्रामकों में शुद्ध वायु और धूप हैं। शुद्ध वायु की आक्सिजन जीवाणुओं को नष्ट करती है। इसके अतिरिक्त हवा जीवाणुओं को अपने प्रवाह के साथ इधर उधर तितर बितर कर देती है और इस प्रकार जीवाणु कम हो जाते हैं।

सूर्य की अल्ट्रा वायलट किरणों (ultra violet rays) की जीवाणु-नाशक शक्ति बहुत अधिक होती है। यही कारण है कि केवल धूप के इलाज (sun bath treatment) से इतने रोगी अच्छे हो जाते हैं। धूप सर्वोत्तम प्राकृतिक विसंक्रामक है। धूप से रोगी के कपड़े, कुर्सी, मेज, चारपाई आदि सब [illegible] सुगमता से जीवाणुरहित किये जा सकते हैं। धूप के विसंक्रामक गुणों के कारण ही रोगी गृह में धूप का आना आवश्यक माना जाता है। जिन घरों में अच्छी तरह से धूप और स्वच्छ हवा आती है उनमें रोग भी जल्दी प्रवेश नहीं कर पाते। यही कारण है कि स्वच्छ और हवादार खुले मकानों में रहने वाले लोग अधिक स्वस्थ और निरोग रहते हैं।

भौतिक विसंक्रामक

भौतिक विसंक्रामक में मुख्य ताप है। आग में जलाकर या अत्यधिक गर्मी द्वारा जीवाणुओं को नष्ट किया जा सकता है। ताप के दो रूप हैं—शुष्क और नम।

शुष्क ताप

(१) जलाना—आग में जीवाणुओं के साथ कपड़े भी जल जाते हैं। इस कारण कपड़ों का विसंक्रामक आग द्वारा नहीं किया जा सकता। जीवाणुओं को

नष्ट करने के लिए रोगी के थूक, वमन, मल आदि को जलाना सर्वोत्तम समझा जाता है। धातु के बर्तन आग में नष्ट नहीं होते, अतः उनकी सफाई उन्हें आग में तपा कर सुगमता से की जा सकती है। रोगी के उपयोग में पुराने और कम क़ीमती कपड़े लाना ही अच्छा होता है। जिन वस्त्रों पर रोगी ने वमन या मल-मूत्र किया हो उन्हें भी जला देना ही अच्छा है।

(२) वायु को गरम करना—इस विधि मे कमरे को बन्द करके कृत्रिम ढग से उसकी वायु का ताप बढ़ाया जाता है। वायु का तापक्रम १५०° सेंटीग्रेड के लगभग तक लाया जाता है। जिन चीजों को जीवाणुरहित करना होता है उन्हें पहले से कमरे मे रख दिया जाता है। गर्मी के कारण सब जीवाणु मर जाते हैं और सब वस्तुयें भली प्रकार शुद्ध हो जाती हैं। घटे डेढ़-घटे बाद धीरे-धीरे कमरे का तापक्रम कम करके उसे खोला जाता है। चमड़े आदि की चीजों तथा पुस्तकों को भी इस विधि से कोई हानि नहीं पहुँचती। अत ऐसी सब चीजें भी इस विधि द्वारा शुद्ध की जा सकती हैं। रुती व ऊनी कपड़े गर्मी से खराब हो जाते हैं। अत उन्हें इस विधि से साफ नहीं करना चाहिए।

नम ताप

(१) उबालना—कीमती कपड़ो को जला कर नष्ट कर देना सभव नहीं होता। ऐसी चीजों को पानी में कुछ समय उबाल लेने से उनके जीवाणु मर जाते हैं। रोगी के इस्तेमाल के छोटे कपड़े, तौलिए आदि प्रतिदिन ही उबाल कर स्वच्छ कर लेना चाहिए। पानी के उबलने के ताप पर साधारणतः कोई भी जीवाणु जीवित नहीं रह सकता। यही कारण है कि पानी में लगभग आधा घटा उबाल लेने से उन चीजों द्वारा रोग फैलने का डर नहीं रहता। उबालते समय पानी मे कोई रासायनिक विसक्रामक वस्तु डाल लेना और भी अच्छा होता है।

(२) भाप देना—भौतिक विसक्रामकों में भाप सब से उत्तम है। इसका ताप भी अधिक होता है। दूसरे इसमें वस्तुओं मे प्रवेश करने का गुण भी खूब होता है। चमड़े की चीजें तथा वार्निश लगे फर्नीचर छोड़ कर अन्य सामान भाप

द्वारा जीवाणुरहित किये जा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने घर में इसका प्रबन्ध करना कठिन होता है, अत शहरों की म्यूनिसिपैलिटियाँ शहर में कुछ स्थानों पर इसका प्रबन्ध रखती हैं। जिन लोगों को अपनी वस्तुओं की भाप द्वारा शुद्धि करानी होती है वे वहीं समान ले जाते हैं। यों घर पर प्रबन्ध करना भी असम्भव नहीं है।

रासायनिक विसंक्रामक

रासायनिक विसंक्रामक तीन प्रकार के होते हैं—(१) ठोस, (२) द्रव तथा (३) वाष्पीय।

बहुत से रासायनिक विसंक्रामक द्रव्य अत्यन्त महँगे बिकते हैं और इसी कारण साधारण परिस्थिति के लोग उनका पर्याप्त रूप से उपयोग नहीं कर पाते। उचित विसंक्रामण के लिए यह आवश्यक है कि विसंक्रामक पदार्थ उत्तम कोटि का हो और साथ ही पर्याप्त मात्रा में भी हो। अत प्रत्येक विसंक्रामक पदार्थ को उपयोग में लाते समय उसकी उचित मात्रा का ध्यान रखना चाहिए। अच्छे विसंक्रामक में यह विशेषता भी होनी चाहिए कि उससे वस्तुयें खराब न हों, तभी उसका अधिक उपयोग हो सकेगा। नीचे कुछ विशेष विसंक्रामक पदार्थों का वर्णन दिया जाता है—

वाष्पीय विसंक्रामक पदार्थ

फारमैलडिहाइड (formaldehyde)—यह एक वाष्पीय जीवाणु नाशक पदार्थ है। यह पानी में घुलनशील है। इसका घोल फारमैलीन (formalin) के नाम से बाजार में बिकता है। विसंक्रामण के लिये इसका उपयोग वाष्प रूप में ही सब से अच्छा होता है। विसंक्रामण के लिए फारमैलीन को गर्म कर फारमैलडिहाइड को वाष्प रूप में प्राप्त किया जाता है। फारमैलीन को पोटैसियम परमैंगनेट के साथ मिश्रित करके भी फारमैलडिहाइड वाष्प के रूप में प्राप्त हो सकती है।

फारमैलडिहाइड के वाष्प का अधिक अच्छा प्रभाव थोड़ी सी नमी की उपस्थिति में होता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें वस्त्र आदि खराब नहीं होते।

गन्धक की गैस—यह गन्धक को जलाने से प्राप्त होती है। इस गैस में एक तेज गंध होती है। यह गैस विषैली होती है और इसमें साँस लेने से दम घुटने लगता है। विसंक्रामण के लिए एकत्र किया गया सामान कमरे में रख कर बन्द कर देना चाहिए। एक ओर का द्वार खोल कर वहाँ पर रखी हुई गन्धक में आग लगा कर तुरन्त बाहर निकलकर द्वार बन्द कर देना चाहिये। गन्धक से निकली हुई विषैली गैस में सब जीवाणु मर जाते हैं। दो तीन घंटे बन्द रखने के बाद द्वार खोलने चाहिये। द्वार खोलने के दो घंटे बाद कमरे में प्रवेश करना चाहिये। इस बीच में कमरे की दुर्गन्धयुक्त विषैली वायु बाहर निकल जाती है।

क्लोरीन गैस—यह एक विषैली तीव्र गन्धवाली गैस है। इसकी जीवाणु-नाशक शक्ति बहुत तेज होती है। पीने के पानी को जीवाणुरहित करने के लिये इस गैस का व्यवहार वाटरवर्क्स में किया जाता है। रोगी के कमरे का विसङ्क्रामण करने के लिये इस गैस को रासायनिक क्रिया द्वारा तुरन्त कमरे में ही बनाया जाता है। थोड़ा सा ब्लीचिंग पाउडर एक लोहे या इनेमेल के बर्तन में लेकर उसमें हाइड्रोक्लोरिक एसिड मिलाई जाती है। ब्लीचिंग पाउडर और हाइ-ड्रोक्लोरिक एसिड में रासायनिक क्रिया होने से क्लोरीन गैस उत्पन्न होती है जो उस कमरे में फैलकर जीवाणुओं को नष्ट कर देती है।

इनके अतिरिक्त ओजोन, हाइड्रोसायनिक एसिड गैस आदि भी अच्छी विसङ्क्रमक गैसें हैं।

ठोस विसंक्रामक पदार्थ

सूखा चूना, बुझा हुआ चूना, बोरिक एसिड, आयडोफार्म, पोटैसियम परमैंगनेट, ब्लीचिंग पाउडर, मरक्यूरिक क्लोराइड आदि विसङ्क्रामक पदार्थ रवों के रूप में मिलते हैं। इसीसे इन्हें ठोस विसङ्क्रामक कहा जाता है। किन्तु वास्तव में ये सभी पानी में घोल कर द्रव रूप में प्रयोग में लाये जाते हैं। चूना नालियों

आदि की सफाई के लिए चूर्ण रूप में ही डाला जाता है। आयडोफार्म सूखे चूर्ण के रूप में घावों में भरा जाता है। कभी-कभी बोरिक एसिड भी चूर्ण के रूप में ही उपयोग में लाया जाता है। शेष सभी पदार्थ घोल के रूप में प्रयुक्त होते हैं, अतः उनका वर्णन द्रव विसंक्रामकों के साथ किया जायगा।

द्रव विसंक्रामक पदार्थ

पोटैसियम परमैंगनेट—इसके छोटे-छोटे गहरे बैंजनी से रंग के रवे होते हैं जो पानी में घुल कर लाल घोल बनाते हैं। इसी कारण जनता में यह लाल दवा के नाम से प्रसिद्ध है। कपड़ों पर इसके धब्बे पड़ जाते हैं। इस कारण यह कपड़ों की शुद्धि करने के लिये उपयुक्त नहीं है। फल और तरकारी धोने के पानी में तथा कुओं व तालाबों की सफाई के लिये इसका ही उपयोग होता है। हैजे के जीवाणुओं को मारने में यह विशेष रूप से घातक सिद्ध होता है। इसीसे हैजे के दिनों में कुओं आदि के पानी की इससे सफाई की जाती है।

चूने का घोल—बिना बुझे चूने (quicklime) को पानी में घोल कर चूने का घोल प्राप्त किया जाता है। चूना रोगी के थूक, वमन व मल-मूत्र के बर्तन में डाल दिया जाता है। इससे सब जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

ब्लीचिंग पाउडर (bleaching powder)—चार प्रतिशत के हिसाब से ब्लीचिंग पाउडर को पानी में घोल कर उस घोल को रोगी के मल-मूत्र आदि का विसंक्रामण करने में उपयोग किया जाता है।

साबुन—साबुन भी विसंक्रामक का काम करता है। पर यह बहुत तेज विसंक्रामक नहीं है। रोगी का काम करने के बाद तथा वस्त्रों, बर्तनों आदि के छूने के बाद साबुन से हाथ धो लेने से हाथों की सफाई हो जाती है।

मरक्यूरिक क्लोराइड (mercuric chloride)—यह बहुत ही तीव्र विसंक्रामक है। यह विषैला पदार्थ है, अतः इसके प्रयोग में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। १००० भाग जल में इसका १ भाग मिलाने से ही यह तेज विसंक्रामक का काम करता है। इसका घोल शीशे के बर्तनों में ही बनाना

चाहिये; धातु के वर्तनों में यह खराब हो जाता है। रोगी के मलमूत्र त्याग किये हुये कपड़ों की सफाई के लिये इसका कुछ अधिक गाढ़ा घोल उपयोग में प्राय लाया जाता है। गर्म पानी में बनाया गया घोल अधिक तीव्र होता है। अतः सदा गर्म पानी में घोल बनाना चाहिये।

कारबोलिक अम्ल (carbolic acid)—यह भी एक तीव्र विसक्रामक है। यह कोलतार (coal tar) से प्राप्त किया जाता है। साधारणत २० भाग जल में १ भाग कार्बोलिक अम्ल मिलाकर इसका प्रयोग किया जाता है। चर्म के भीतर पहुँचकर विसक्रामण करने की भी शक्ति इसमें है। घावों को धोने में भी इसका प्रयोग किया जाता है। घाव धोने के लिये ८० भाग जल में १ भाग कार्बोलिक अम्ल मिलाया जाता है।

क्रिसोल (cresol)—यह भी कोलतार से प्राप्त होता है। इसकी जीवाणु नाशक शक्ति बड़ी तीव्र होती है। कार्बोलिक अम्ल की अपेक्षा इसकी जीवाणु-नाशक शक्ति बड़ी तीव्र होती है। कार्बोलिक अम्ल की अपेक्षा इसकी तीव्रता लगभग तिगुनी होती है। साधारणत. १०० भाग जल में २$\frac{1}{2}$ भाग क्रिसोल मिला कर इसका उपयोग किया जाता है।

आईजाल (izal)—यह विषैला नहीं होता, किन्तु तीव्र विसक्रामक है। ८०० भाग जल में १ भाग आईजाल का घोल डिफ्थीरिया, टायफायड तथा हैजे के जीवाणुओ को ५ मिनट में नष्ट करने के लिए पर्याप्त होता है। अधिक तीव्र विसक्रामण के लिए ५०० भाग जल में १ भाग आईजाल मिलाया जाता है।

लाईसोल (lysol)–इसका १ भाग ५० भाग जल में घोलकर साधारणत. विसक्रामण के लिए उपयोग में लाया जाता है। चीर-फाड़ में औजारों के विसक्रामण के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है क्योंकि इससे औजारों की धातु को कोई हानि नहीं पहुँचती।

सिल्लिन (cyllin)—यह अत्यन्त तीव्र विसक्रामक है। १६० भाग जल में १ भाग सिल्लिन को घोलकर रोगी के मल, मूत्र, थूक, वमन आदि के

(३) सम्प्राप्तिकाल मे आप क्या समझते हैं ?

(४) रोगक्षमता क्या है ? विस्तार से समझाइये।

(५) रोगक्षमता कैसे प्राप्त की जा सकता है ?

(६) रोगों से बचने के लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

(७) विसंक्रामण से आप क्या समझते हैं ? वस्तुओं का विसंक्रामण कितने प्रकार से किया जा सकता है ?

(८) भौतिक विसंक्रामक कितने प्रकार के होते हैं ? विसंक्रामण के लिये उनका उपयोग कैसे किया जाता है ?

(९) रासायनिक विसंक्रामक कितने प्रकार के होते हैं ? कुछ विसंक्रामक द्रव्यों के उपयोग बतलाइये।

(१०) "धूप सर्वोत्तम विसंक्रामक है।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

— — —

सत्रहवाँ अध्याय

संक्रामक रोग (१)

(वायु से फैलने वाले रोग)

चेचक (small pox)

कुछ समय पहले चेचक एक बड़ी भयंकर बीमारी समझी जाती थी। हमारे देश में तो इसे देवी का प्रकोप मानते थे। अब भी देहातों में तथा शहरों के अपढ़ जनों में यह विश्वास प्रचलित है। इसे शीतला रोग भी कहते हैं।

लक्षण—चेचक बहुत ही भयंकर रोग है। १०३°-१०४° तक तेज ज्वर रहता है और साथ ही सिर तथा पीठ में दर्द तथा वमन भी होता है। नाक-कान से प्रायः पानी भी बहता है। प्रायः ज्वर आने के तीसरे दिन शरीर पर नन्हे-नन्हें लाल दाने निकलते हैं। ये दाने धीरे-धीरे बड़े हो जाते हैं और इनमें पानी भर आने से ये फफोलों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इन फफोलों का पानी दो तीन दिन में ही मवाद में बदल जाता है। मवाद की अवस्था पहुँचने पर ज्वर भी तीव्र हो जाता है और दानों के आस-पास सूजन हो जाने से समस्त शरीर सूजा हुआ प्रतीत होता है। मुँह पर सूजन बढ़ने से चेहरा एकदम विकृत हो जाता है। जिन रोगियों के दानों में मवाद के साथ खून भी दिखलाई पड़ने लगता है उनका बचना असम्भव हो जाता है। इस रोग में रोगी को बहुत अधिक देख-रेख रखने की आवश्यकता होती है। असावधानी से आँखों की ज्योति नष्ट होने तथा रोगी के बहरे हो जाने की सम्भावना रहती है।

ज्वर कम होने के साथ साथ दाने भी सूखने आरम्भ हो जाते हैं। सूखने पर दानों के ऊपर पपड़ी (scales) जम जाती है और पूरा सूखने पर वह स्वयं ही गिर जाती है। रोगी की आँखों के निकट के दानों का मवाद आँख में न

पहुँचने पाये इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा आँखें नष्ट हो जाती हैं।

छूत फैलने का ढंग—चेचक का रोग अधिकतर दानों पर से उड़ी हुई पपड़ी द्वारा फैलता है। यह सूखी पपड़ी उड़ उड़ कर वायु में मिल जाती है। ऐसी दूषित वायु मे साँस लेने से जिनके शरीर में यह पपड़ी प्रवेश कर जाती है वे लोग चेचक के शिकार होते हैं। पपड़ी के अतिरिक्त रोगी के मवाद द्वारा भी रोग फैलता है। रोगी के शरीर को छूने से अथवा उसके इस्तेमाल किये हुए वस्त्रों को बिना ठीक से साफ किये इस्तेमाल करने से रोग होने का डर रहता है। बिना विसक्रामण किये गये कपड़े धोबी को देने से भी रोग के सक्रामक रूप से फैलने की सम्भावना रहती है। धोबी सब घरों से लाये कपड़ों को एक साथ रखता है। रोगी के मवाद भरे कपडों से दूसरों के वस्त्रों में भी जीवाणु पहुँच जाते हैं। धोबी के यहाँ की धुलाई में वस्त्रों का विसक्रामण नहीं होता, अतः रोग फैलता है। इसके अतिरिक्त धोबी अपने छोटे से घर में बिना धोये हुये तथा धोये हुए कपड़े पास ही पास रखता है, अतः गदे कपडों से धोये हुये कपड़ों मे भी जीवाणु पहुँच जाते हैं और फिर उनके पहनने वालों को चेचक होती है। मक्खियाँ भी कभी कभी चेचक फैलाने मे भाग लेती हैं। रोगी के मवाद भरे दानों पर यदि मक्खी बैठती है तो अपने पैरों व पखों में चेचक के कुछ जीवाणुओं को चिपका लेती है। फिर जिस वस्त्र, स्थान व वस्तु पर वह बैठती है वहाँ इन जीवाणुओं को भी पहुँचा देती है। अतः इस बात का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए कि रोगी के शरीर पर मक्खी न बैठने पाये।

सम्प्राप्तिकाल—चेचक का सम्प्राप्तिकाल साधारणतः १२ दिन का होता है। कभी कभी यह समय ६ से १५ दिन तक का भी होता है।

सक्रामक काल—दाने निकलने के समय से लेकर सब दानों की पपड़ी सूख कर गिर जाने तक रोगी द्वारा रोग फैलता है। साधारणतः ५ से ८ सप्ताह तक रोगी द्वारा रोग फैलने की सम्भावना रहती है।

रोगक्षमता—इस रोग के विरुद्ध रोगक्षमता शरीर में दो प्रकार से उत्पन्न होती है—(१) एक बार चेचक हो जाने से तथा (२) चेचक का टीका (vaccination) लगवाने से।

एक बार चेचक हो जाने से जीवन भर के लिये शरीर में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। बहुत ही कम ऐसा देखने में आता है कि एक मनुष्य को दो बार चेचक हो।

चेचक के टीके की खोज सन् १७९८ में इंगलैंड के जेनर महाशय ने की थी। जिन बछड़ों को चेचक होता है उनके फफोलों के मवाद से टीका लगाने की दवा (vaccine) तैयार की जाती है। दवा अधिक मात्रा में तैयार करने के लिये बछड़ों में जानबूझ कर भी चेचक फैलाई जाती है। इस दवा के टीके मनुष्य की बाँह में लगाये जाते हैं। जिस स्थान पर टीके लगाने हैं वहाँ २४ घण्टे में ही सूजन आने लगती है और प्रायः तीसरे दिन से ज्वर भी आने लगता है। इसके अतिरिक्त टीके के स्थान पर (जितनी जगह टीका लगा हो) बड़े बड़े फफोले हो जाते हैं। इनमें क्रम से जल तथा फिर मवाद भर जाता है। ७ ८ दिन में ये सूख जाते हैं और इन पर पपड़ी बन कर उतर जाती है। वास्तव में होता यह है कि दवा के रूप में बछड़ों को होने वाली चेचक के जीवाणु हमारे शरीर में प्रवेश करवाये जाते हैं। वे संख्या में कम होते हैं, अतः रोग तो उत्पन्न नहीं कर सकते, पर शरीर में भीतर ही भीतर बढ़कर हमारे रक्त में ऐसे पदार्थ उत्पन्न कर देते हैं जो बाहर से आक्रमण करने वाले चेचक के जीवाणुओं को नष्ट करके चेचक के प्रकोप से हमारी रक्षा करते हैं। इस प्रकार प्राप्त की हुई रोगक्षमता ८-१० वर्ष रहती है। अतः यदि शहर में चेचक फैली हो और टीका लगवाये ७ ८ वर्ष हो चुके हों तो दुबारा टीका लगवा लेना चाहिये। चेचक बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी को समानरूप से होती है। टीका लगवाने के बाद साधारणतः चेचक नहीं होती, और यदि कभी हो भी जाती है तो उसका प्रकोप अधिक नहीं होता।

चेचक से बचने के उपाय—(२) ऊपर के वर्णन से स्पष्ट मालूम हो गया होगा कि चेचक से बचने का सर्वोत्तम उपाय टीका लगवाकर अपने शरीर में

चेचक के विरुद्ध रोगक्षमता उत्पन्न कर लेना है। इसी विचार से छोटे बालकों के टीका लगवाना प्रत्येक सभ्य देश की सरकार ने अनिवार्य कर रखा है। १५ दिन के बच्चे को टीका लगवाया जा सकता है। इतनी छोटी आयु पर न भी लगवायें तो भी ६ महीने के अन्दर तो अवश्य ही टीका लगवा देना चाहिए। प्रत्येक स्थान की म्यूनिसिपैलिटी यह काम करती है। इसके बाद यदि १०-१२ वर्ष की आयु के लगभग फिर एक बार टीका लगवा दिया जाय तो फिर आजन्म चेचक होने का भय नहीं रहता।

(२) टीके के अतिरिक्त चेचक से बचने के लिए रोगी का अलग रखना और विसंक्रामण का ध्यान रखना आवश्यक है। जैसे ही यह मालूम हो कि रोगी को चेचक है उसे तुरन्त चेचक के अस्पताल में भेज देना चाहिए। यदि किसी विशेष कारण और परिस्थितियों से यह सम्भव न हो सके तो रोगी को घर में ही सबसे अलग एक कमरे में रखना चाहिए। परिचर्या का काम उन्हीं लोगों को करना चाहिए जिनके टीका लगा हो। परिचर्या करने वालों के अतिरिक्त अन्य लोगों को रोगी के पास नहीं जाना चाहिए। बच्चों का विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है।

(३) जिस घर में किसी को चेचक हो उस घर के बच्चों को स्कूल में नहीं आने देना चाहिए, अन्यथा सम्भव है स्कूल में भी इसकी छूत फैल जाय। रोगी के अच्छे होने के बाद सम्प्राप्तिकाल के दिवस बीत जाने पर ही उस घर के बच्चों को स्कूल आने की आज्ञा मिलनी चाहिए। यदि रोगी अस्पताल चला गया हो तब उस दिन से सम्प्राप्तिकाल के दिन व्यतीत हो जाने पर बच्चों को स्कूल आने दिया जा सकता है।

(४) घर में रोगी के वमन, थूक तथा मल-मूत्र के विसंक्रामण का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। विसंक्रामक पदार्थों में रखने के भी बाद इनको जलवा देना ही अच्छा है। रोगी के बर्तन कपड़े आदि सब अलग हों और रोगी के अच्छा होने पर इन सब वस्तुओं का तथा रोगी के कमरे का भली भाँति विसंक्रामण

करना अत्यन्त आवश्यक है। धोबी को देने के पहले कपड़ों का विसंक्रामण अत्यन्त आवश्यक है।

इन सब बातों का ध्यान रखने से घर के अन्य प्राणी तो बचते ही हैं रोग शहर में सक्रामक रूप से भी नहीं फैल पाता।

छोटी माता (chicken pox)

यह रोग भी चेचक के समान ही होता है किन्तु उतना घातक नहीं होता। इसका रूप और लक्षण चेचक के समान होने के अतिरिक्त यह प्राय. चेचक के प्रकोप के साथ ही साथ फैलता है। इस कारण प्राय. लोग इसे चेचक के हलके आक्रमण के रूप में ले लेते हैं। किन्तु यह चेचक से भिन्न है। यह रोग प्राय. १० वर्ष की अवस्था तक के बच्चों को होता है, बड़े लोगों को बहुत कम होता है।

जीवाणु और उनका सवहन—इसके जीवाणु भी चेचक के जीवाणुओं की तरह के होते हैं। एक रोगी से स्वस्थ मनुष्य तक ये किस प्रकार पहुँचते हैं यह निश्चय रूप से मालूम नहीं है। किन्तु यह अनुमान किया जाता है कि रोगी के सम्पर्क में आने से ही स्वस्थ मनुष्य को भी यह रोग लग जाता है।

सम्प्राप्तिकाल—इसका सम्प्राप्तिकाल १४ से १६ दिन तक का होता है।

लक्षण और रूप—इसमें ज्वर साधारणतः १०२° तक ही जाता है। रोगी को कॅपकँपी लगती है। सिर व पीठ में दर्द होता है। प्रथम दिन ही शरीर पर थोड़े से दाने निकल आते हैं। ये दाने मुख, वक्षस्थल और बाहुओं पर निकलते हैं। सब स्थानों के दाने एक साथ नहीं निकलते। वरन् एक स्थान पर निकले हुए दाने जब सूखने लगते हैं तब दूसरे स्थान पर निकलना आरम्भ होते हैं। इन दानों का आकार चेचक के दानों के समान ही होता है। निकलने के ४-५ घंटे पश्चात् ही ये पक जाते हैं और ३-४ दिन में ही सूख जाते हैं। दाने बीच में उभरे हुये रहते हैं। दाने हलके होते हैं और साधारणतः उनके निशान व गड्ढे नहीं पड़ते। जब सब दाने सूख कर उनकी पपड़ी (खुरंड) निकल जाय तब ही रोग को अच्छा हुआ समझना चाहिये। यह रोग साधारणत. घातक नहीं होता।

सक्रामककाल—जब तक सब दानो की पपड़ी (खुरड) न निकल जाय तब तक रोगी रोग फैला सकता है। अत. इसका सक्रामक-काल तीन सप्ताह माना गया है।

उपचार—डाक्टर को दिखला लेना चाहिए कि कोई अन्य कष्ट तो नहीं है। इसके अतिरिक्त रोगी को सब से अलग और स्वच्छ स्थान पर रखना चाहिए। उसकी देखभाल के लिये शिक्षित परिचारिका का होना अनिवार्य है।

रोगक्षमता—इस रोग के विरुद्ध स्वाभाविक रोगक्षमता किसी मे नहीं पाई जाती। रोग के एक आक्रमण से रोगक्षमता आ जाती है। चेचक की भाँति टीका लगवाने से इसके प्रति रोगक्षमता प्राप्त नहीं होती। चेचक के आक्रमण से इसके विरुद्ध या इसके आक्रमण से चेचक के विरुद्ध रोगक्षमता नहीं आती क्योंकि ये दोनों भिन्न रोग हैं।

रोग से बचने के उपाय—किसी को रोग होने पर तुरन्त नगर की म्यूनिसिपैलिटी के डाक्टर (health officer) को इसकी सूचना देनी चाहिए। वह शहर में विशेष सफाई का प्रबन्ध करवायेगा तथा शहर-वासियों को इस रोग की ओर से सचेत कर देगा। रोगी को घर में सब से अलग रखना चाहिये। उसके पास केवल उन्हीं लोगों को जाना चाहिये जो रोगी की देखभाल कर रहे हों। इन लोगों को भी अपने बचाव का पूरा ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर व वस्त्रों की स्वच्छता का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। जब रोगी के शरीर से सब दानों की सूखी पर्त उतर चुके तब उसे किसी विसक्रामक औषधि से स्नान करा कर स्वच्छ वस्त्र पहनाने के पश्चात् ही उसके पास दूसरे लोगों को आना चाहिए। रोगी के उपयोग में आये हुए वस्त्रों व बर्तनो आदि को भाप द्वारा या उबाल कर जीवाणु-रहित करने के पश्चात् ही काम में लाना चाहिए। इन सब बातों का ध्यान रखने से हम इस रोग से अपनी रक्षा कर सकते हैं।

खसरा (measles)

यह भी बहुत सक्रामक रोग है। ६ महीने से छोटे बच्चों को साधारणतः

खसरा नहीं होती, किन्तु ६ महीने से ५ वर्ष तक के बच्चों को बहुत होती है। कभी-कभी बड़े लोगों को भी इसकी छूत लग जाती है।

लक्षण और रूप—खसरा में नाक और गले में सूजन तथा ज्वर होता है। आँख से पानी भी बहता है। ज्वर के तीसरे चौथे दिन समस्त शरीर पर लाल दाने निकल आते हैं। इससे सारी त्वचा लाल दिखलाई देने लगती है।

इसके जीवाणु नाक और मुँह के स्राव में रहते हैं। अतः वायु द्वारा अथवा रोगी के सम्पर्क में आने से इसकी छूत लगती है। यह अत्यन्त संक्रामक रोग है। यदि एक बच्चे को घर में हो जाता है तो फिर साधारणतः अन्य बच्चों को भी होता है। यदि गले और फेफड़ों में कुछ खराबी (pulmonary complications) हो जाती है तो खसरा घातक सिद्ध होती है।

सम्प्राप्तिकाल—खसरा का सम्प्राप्तिकाल साधारणतः १० से १८ दिन तक का है। पर कभी-कभी २० दिन तक चलता है।

संक्रामक काल—रोग होने के समय से लेकर जब तक रोगी की नाक से स्राव होता रहता है, उसके द्वारा रोग फैलने की सम्भावना रहती है।

रोगक्षमता—इस रोग के विरुद्ध स्वाभाविक रोगक्षमता तो बहुत ही कम लोगों में होती है। एक बार खसरा होने पर भी रोगक्षमता उत्पन्न नहीं होती। प्रायः बच्चों को २-३ बार तक खसरा निकलती हुई देखी गई है। इससे बचने अथवा कृत्रिम रूप से रोगक्षमता उत्पन्न करने के लिये अभी तक किसी प्रकार के टीके का आविष्कार नहीं हुआ है।

खसरा से बचने के उपाय—जिस बच्चे को खसरा निकली हो उसे घर के अन्य प्राणियों से अलग हवादार कमरे में रखना चाहिये। रोगी की नाक और मुँह से निकले हुए स्राव को पुराने किन्तु स्वच्छ कपड़े से पोंछना चाहिये जिससे वे जलाये जा सकें। यदि रोगी किसी बर्तन में थूकता है तो उस बर्तन में कोई विसंक्रामक पदार्थ डाल कर रखना चाहिये। रोगी बालक के खिलौने, वस्त्र व बर्तन सब उसके अच्छे होने पर किसी विसंक्रामक द्वारा साफ करने चाहिये

कमरे का विसक्रामण भी आवश्यक है। इस प्रकार सफाई का ध्यान रखने से रोग घर में तथा शहर में फैलने नहीं पाता। जब घर या शहर में यह बीमारी हो तो सफाई से रहना, नाक और गले की सफाई रखना, किसी विसक्रामक द्वारा कुल्ले करना, रोगी से दूर रहना इत्यादि ही रोग से बचने के उपाय हैं। रोगी के घर वालों को चाहिये कि म्यूनिसिपैलिटी को इसकी सूचना अवश्य दे दें।

कुकुर खॉसी या काली खॉसी (whooping cough)

लक्षण और रूप—यह रोग छोटे बच्चों को ही होता है। दो साल से छोटे शिशुओं के लिये तो यह प्रायः घातक ही सिद्ध होता है। प्रायः खसरा के बाद सावधानी न रखने से यह रोग हो जाता है। इसकी छूत वायु द्वारा फैलती है। इसके जीवाणु इन्फ्लुएञ्जा के जीवाणुओं से मिलते-जुलते हैं। अधिकतर यह रोग रोगी के ससर्ग में आने से होता है। रोगी को साँस के साथ तथा खॉसते समय उसके मुख द्वारा जीवाणु बाहर निकल कर वायु में मिल जाते हैं। रोगी के समीप रहने से साँस द्वारा इन जीवाणुओं के स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रवेश करने की पूरी सम्भावना रहती है। रोगी के वस्त्रों, बर्तनों तथा खिलौनों द्वारा भी दूसरे बालकों में इसकी छूत फैलती है। कुत्तों को यह खाँसी बहुत होती है और सम्भवत. इसीसे इसे कुकुर खाँसी कहते हैं। पालतू कुत्तों को यदि यह बीमारी हो जाती है तो उनके साथ खेलने से भी बच्चों को यह रोग हो जाता है।

इस रोग में ज्वर तो बहुत कम होता है और प्रायः बिल्कुल ही नहीं होता, पर बालक को रुक-रुक कर खॉसी के दौरे से आते हैं। दिन में ४ ५ से १८-२० बार तक यह दौरे आते हैं। प्रत्येक दौरा काफी देर तक रहता है और प्रायः खाँसते-खाँसते कै भी हो जाती है।

सम्प्राप्तिकाल—इस रोग का सम्प्राप्तिकाल साधारणत. ७ से १० दिन तक का होता है पर प्राय १४ दिन तक भी बढ़ जाता है।

सक्रामक-काल—रोग की दशा से तथा रोग अच्छा होने के लगभग २ मास बाद तक रोगी द्वारा रोग फैलने की सम्भावना बनी रहती है।

रोगक्षमता—साधारणत' एक बार कुकुर खाँसी होने से शरीर में इसके प्रति रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। पर कभी कभी दो बार भी यह रोग होते देखा गया है।

रोग से बचने के उपाय—रोगी को तुरन्त सबसे अलग कर देना अत्यन्त आवश्यक है। यदि दो मंजिला मकान हो तो ऊपर की मजिल के किसी हवादार कमरे में रोगी को अलग रखना चाहिए। माता या अन्य परिचारक के अतिरिक्त अन्य लोगों को रोगी बालक के पास नहीं जाना चाहिए। घर के अन्य बच्चों के बचाव का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये। यदि घर में पालतू कुत्ता हो तो उसके बचाव का ध्यान रखना भी बहुत जरूरी है क्योंकि कुत्तों को यह रोग बहुत जल्दी लगता है और फिर वे इसे खूब फैलाते हैं।

रोगी बालक के थूक, वमन आदि का विसक्रामण क‹के उन्हें जला डालना चाहिए। खाँसते समय बालक के मुँह के सामने स्वच्छ पुराने कपड़े का एक टुकड़ा रख देना चाहिये और बाद को इस टुकड़े को किसी विसक्रामक में डाल कर रखते जाना चाहिये। इन सबको बाद में जला देना चाहिए। रोगी बालक के सब वस्त्र, वर्तन व खिलौना अलग रखने चाहिए और बालक के अच्छे हो जाने पर उन सब का भली प्रकार विसक्रामण करना चाहिए। रोगी के कमरे का विसक्रामण भी अत्यन्त आवश्यक है।

इस रोग का सक्रामक-काल ६ सप्ताह से १ मास तक होता है। अत रोगी के अच्छे होने पर भी काफी दिन तक उसे अन्य बच्चों के साथ मिलने व खेलने न देना चाहिए। लगभग २ मास तक घर के सब बच्चों को रोगी बालक से बचाने, किसी विसक्रामक पदार्थ से उन्हें कुल्ला कराने आदि का ध्यान रखना चाहिए। बालक को अच्छा होने के बाद भी लगभग ६ सप्ताह तक स्कूल न भेजना [illegible]५, अन्यथा अन्य बच्चों में भी इसकी छूत फैल जाएगी।

डिप्थीरिया

लक्षण और रूप—डिप्थीरिया गले का एक भयानक सक्रामक रोग है। इसके जीवाणु टेंटुये पर ही आक्रमण करते हैं और उसके ऊपरी भाग स्वरयन्त्र, में पनपते हैं। जीवाणुओं के बढ़ने के साथ साथ टेंटुये के मुख पर धूसर मटमैले से रंग की झिल्ली बनने लगती है। धीरे-धीरे यह झिल्ली चारों ओर से बढ़ने लगती है और रोगी को श्वास लेने में कठिनाई होती है। यदि झिल्ली बहुत अधिक बढ़ जाती है तो टेंटुये का द्वार एकदम बन्द हो जाता है और इस प्रकार वायु आ-जा नहीं सकती। फलस्वरूप रोगी साँस नहीं ले पाता और उसका दम घुटने लगता है। ऐसी अवस्था मे यदि डाक्टर शीघ्र ही कोई उपाय नहीं कर पाता तो तुरन्त ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। डिप्थीरिया के अधिकाश रोगियों की मृत्यु इस प्रकार साँस बन्द हो जाने से ही होती है।

डिप्थीरिया में रोगी को १०३°-१०४° ज्वर रहता है। आरम्भ मे जुकाम की भाँति गला खराब होना आरम्भ होता है। इस रोग के जीवाणु झिल्ली बनाने के साथ-साथ शरीर में एक प्रकार का विष भी उत्पन्न करते हैं। यह विष भी प्रायः मृत्यु का कारण होता है।

डिप्थीरिया अधिकतर शीत ऋतु में ही फैलता है और साधारणत एक वर्ष के बालकों को ही अधिक होता है।

छूत का संवहन—डिप्थीरिया के जीवाणु रोगी के गले में स्थित होने के कारण स्वभावत. उसके थूक, बलगम, तथा श्वास से निकली वायु आदि मे पाये जाते हैं। रोगी के समीप बैठने से वायु द्वारा यह जीवाणु दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। रोगी बालकों के खिलौने, पेन्सिल, रुमाल आदि द्वारा भी इसकी छूत फैलती है। रोगी के थूक व बलगम आदि के सूखने पर उनके कण यदि भोजन और दूध में वायु द्वारा पहुँच जायँ तो इन चीजों को खाने पीने से डिप्थीरिया हो जाता है। रोगी के थूक और बलगम से डिप्थीरिया के जीवाणु

मक्खियों द्वारा भी प्राय हमारी खाने-पीने की चीजों में पहुँचते हैं और डिप्थीरिया फैलाने का कारण होते हैं।

सम्प्राप्तिकाल—इसका सम्प्राप्ति-काल साधारणत. ३ ४ दिन का होता है। अत. जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश करने के ३-४ दिन बाद ही ज्वर तथा गले में दर्द आदि होने लगता है। फिर ६-७ दिन खूब अधिक बढ़ने के बाद रोग में कमी होने लगती है। प्राय. १४-१५ दिन में रोगी अच्छा हो जाता है, पर कभी-कभी ४-५ सप्ताह तक लग जाते हैं।

संक्रामक-काल—साधारणत. अच्छा होने के २-३ सप्ताह तक रोगी इसको संक्रामकता फैलाने के कारण होते हैं। अत. इस बीच उनसे बचना चाहिए। बच्चों को अच्छा होने पर स्कूल में तथा अन्य बच्चों के पास २ ३ सप्ताह तक नहीं भेजना चाहिए। कभी कभी रोगी के गले में इसके कुछ जीवाणु बहुत दिन तक बसे रहते हैं। ऐसे रोगी बहुत समय तक रोग फैलाने का कारण होते हैं।

रोगक्षमता—डिप्थीरिया के विरुद्ध स्वाभाविक रोगक्षमता प्राय नहीं होती एक बार डिप्थीरिया होने पर भी शरीर में रोगक्षमता उत्पन्न नहीं होता। डिप्थीरिया के जीवाणुओं से तैयार किए गए प्रतिविष (antitoxin) का इंजेक्शन लेने से कुछ दिनों के लिये शरीर में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। यह रोगक्षमता अधिक दिन नहीं टिकती, अत. जब शहर में डिप्थीरिया फैला हो तो फिर इंजेक्शन ले लेना चाहिये।

रोग से बचने के उपाय—इस रोग से बचने का सर्वोत्तम उपाय तो इंजेक्शन लेना ही है। घर में या शहर में इस रोग के फैलने पर अथवा किसी ऐसे रोगी के सम्पर्क में आने पर तुरन्त यह इंजेक्शन लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त रोगी के सम्पर्क से बचे रहने की पूरी चेष्टा करना चाहिये। रोगी को अलग कमरे में रखना चाहिये। गले की सफाई का बहुत ध्यान रखना चाहिये। इसके लिये किसी विसंक्रामक पदार्थ के कुल्ले करना अच्छा होता है। परिचारक तथा रोगी के समीप रहने वाले जब रोगी के कमरे से बाहर आयें तो उन्हें चाहिये कि

वे फार्मेलीन, लाईसोल आदि किसी विसक्रामक घोल से अपने हाथ तुरन्त धो लें और साथ ही किसी विसक्रामक पदार्थ से कुल्ले भी कर लें।

अच्छे होने पर रोगी के नाक, मुँह आदि को किसी विसक्रामक द्वारा भली प्रकार साफ करना चाहिये। उसके वस्त्र बर्तन आदि सब सामान का तथा कमरे का खूब अच्छी प्रकार विसक्रामण करना चाहिए। रोग के समय में रोगी के थूक आदि को विसक्रामकण पदार्थ में कर के जलवाते रहना चाहिये। इस प्रकार सावधानी रखने से हम स्वय भी इस रोग से बच सकते हैं और साथ ही इसे सक्रामक रूप से फैलने से रोक सकते हैं।

इन्फ्लुएंजा (influenza)

यह एक तीव्र सक्रामक रोग है। जिस समय यह रोग फैलता है उस समय बड़ी शीघ्रता से देश भर में फैल जाता है। पिछली बार सन् १६१८ में यह रोग अत्यन्त भयकर रूप से सारे ससार में फैला था। केवल भारतवर्ष में ही इससे लगभग २½ लाख मनुष्यों की मृत्यु हुई थी।

लक्षण और रूप—इस रोग के दो रूप पाये जाते हैं। एक तो ऊपर बतलाये ढङ्ग से महामारी के रूप में फैलता है। इसमें ज्वर १०२° से १०४° तक रहता है। खूब खाँसी तथा छींक आना, नाक बहना, गले में सूजन और दर्द होना, बलगम आना तथा समस्त शरीर में पीड़ा होना इसके मुख्य लक्षण हैं। सबसे बड़ा डर इसमें फेफड़ों पर प्रभाव पड कर निमोनिया हो जाने का रहता है। हृदय पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

अपने दूसरे रूप में यह रोग साधारणत सभी जगह कुछ लोगों को होता रहता है। रोग का यह रूप भी सक्रामक होता है पर महामारी की तरह कष्टकारी नहीं होता। इसमें भी रोग के लक्षण उक्त सब ही होते हैं पर उनकी तीव्रता में कमी होती है। इस अवस्था में भी असावधानी से निमोनिया होने का डर रहता है।

से बचना परम आवश्यक है। ऐसे स्थानों पर शुद्ध वायु नहीं मिलती। नमक के गर्म पानी से अथवा किसी विसक्रामक पदार्थ से कुल्ले करना भी अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होता है।

इस रोग मे प्राय फेंफुये में भी कष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में निमोनिया, ब्रोंकाइटिस तथा प्लूरिसी आदि होने का भय रहता है। अत रोगी की पूर्णत सेवा सुश्रूषा करने के साथ-साथ स्वय अपने बचाव का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये।

संक्रामक-काल—निरोग होने के बाद भी लगभग ६ सप्ताह तक रोगी जीवाणुवाहक रहता है। अत उसे इस समय के बीच अन्य लोगों से मिलना-जुलना तथा सभाओं, सिनेमाओं आदि में नहीं जाना चाहिये। बच्चों को इस समय के बीच में पाठशाला भी नहीं भेजना चाहिये।

कर्णफेर (mumps)

लक्षण और रूप—यह भी एक छूत से लगने वाला रोग है। इसमें कान के नीचे सामने की ओर स्थित लार ग्रन्थि सूज जाती है और ज्वर रहता है। यह रोग अधिकतर बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में होता है किन्तु कभी-कभी बड़े लोगों को भी हो जाता है। कभी-कभी टायफायड ज्वर या खसरा जैसे रोगों के साथ भी कर्णफेर हो जाया करता है।

कर्णफेर के जीवाणु और उनका संवहन—इस रोग के फैलाने वाले जीवाणु के सम्बन्ध में अभी तक अधिक नहीं ज्ञात हो सका है। ये जीवाणु वायु या भोजन के साथ मुख मे पहुँच कर लार में मिल जाते हैं और वहाँ से लार-ग्रन्थि में प्रवेश कर रोग उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्तिकाल—इसका सम्प्राप्तिकाल १७ से २२ दिन तक का होता है।

रोगक्षमता—एक बार रोग हो जाने से रोगक्षमता आ जाती है। दुबारा इसका आक्रमण होते हुये बहुत ही कम देखा गया है।

संक्रामक-काल—इसका संक्रामक काल सूजन आने से लगभग ६ सप्ताह तक रहता है।

उपचार—लार ग्रन्थियाँ तीन-चार दिन तक खूब सूजी रहती हैं। उन पर रुई या कपड़ा गर्म करके सेंक पहुँचाया जाता है। सूजन कम होने के साथ ही ज्वर उतरने लगता है। रोग बढ़कर कोई विशेष हानि न पहुँचा सके इस कारण शीघ्र ही डाक्टरी सहायता प्राप्त करनी चाहिये।

रोग से बचने के उपाय—साधारणत ४-५ दिनों में सूजन और ज्वर ठीक हो जाता है, यद्यपि कभी कभी १०-१५ दिन भी लग जाते हैं। रोग के ठीक होते ही यह समझ कर कि अब कोई हानि नहीं हो सकती रोगी के साथ उठना बैठना नहीं चाहिये। रोगी को ६ सप्ताह तक अलग रखना चाहिये। रोगी की देख-भाल करने वालों से भी ३ सप्ताह तक अलग रहना चाहिए।

तपेदिक या राजयक्ष्मा

राजयक्ष्मा या तपेदिक एक तीव्र संक्रामक रोग है। यह अति कठिन रोग है। जिसे यह रोग एक बार होता है फिर जीवन पर्यन्त उसका पीछा नहीं छोड़ता। मृत्यु के साथ ही रोगी को रोग से छुटकारा मिलता है। इसीसे इसे रोगों का राजा भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन समय में लोगों का विश्वास था कि यह रोग राजाओं तथा धनिकों को ही होता है। इससे ही सम्भवत इसे राजयक्ष्मा नाम प्राप्त हुआ। इस रोग में धीरे धीरे मनुष्य के शरीर का क्षय होता जाता है और अन्त में धीरे-धीरे इस प्रकार घुलते रहकर वह मृत्यु की गोद में आश्रय पाता है। इसीसे इसका एक नाम क्षयरोग भी है।

क्षयरोग के जीवाणु और उनका संवहन—इस रोग के जीवाणु ट्यूबरकिल बैसिलस (tubercle bacillus) कहलाते हैं। साधारणत यह रोग वायु द्वारा ही फैलता है। किन्तु कभी-कभी रोगी के जूठे भोजन, उसके वस्त्रों व बर्तनों द्वारा भी यह रोग फैलता है। मक्खियाँ भी प्राय राजयक्ष्मा फैलाने का करती हैं। रोगी के थूक-बलगम आदि को यदि ऐसे ही खुला छोड़ दिया

जाय तो मक्खियाँ उन पर बैठ कर जीवाणुओं को अपने साथ ले जाती हैं और स्वस्थ लोगों के भोजन आदि पर बैठकर उसे दूषित करके रोग फैलाने का कारण होती हैं।

खाँसने व श्वास के समय रोगी के शरीर से निकलने वाली वायु में भी इसके जीवाणु मौजूद रहते हैं। रोगी के समीप बैठने से ऐसी जीवाणुयुक्त वायु में साँस लेने की बहुत सभावना रहती है।

तग गलियों में बने मकानों में जहाँ वायु और धूप की पहुँच ही न होती हो रहने से, गन्दगी से तथा भोजन की कमी, निर्धनता, पर्दाप्रथा, बाल विवाह आदि के कुप्रभावों से यह बीमारी होती है। इस प्रकार के जीवन में शुद्ध वायु, धूप और स्वास्थ्यकर भोजन प्राप्त न होने से प्राणिमात्र का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। वे निर्बल शरीर होते हैं और निर्बलता की अवस्था में प्रत्येक ही रोग जल्दी लगता है।

कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें काम करने वाले मनुष्यों को यह रोग जल्दी लगता है, जैसे सड़कों पर पत्थर तोड़ना, टीन अथवा अन्य धातुओं की काट छाँट का काम, चमड़े की मिल का काम आदि। इन व्यवसाय वालों को इस रोग से बचाना बड़ा कठिन है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उनका लगातार काम करने का समय कम हो और वेतन या मजदूरी इतनी हो कि वे भरपेट भोजन कर सकें और अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रख सकें।

राजयक्ष्मा वास्तव में पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाला रोग नहीं है। यदि रोगी माता-पिता की सन्तान को जन्म के बाद से ही उनसे अलग रखकर पाला पोसा जाय तो उसे यह रोग नहीं होता। तपेदिक की रोगी माता की सन्तान भी जन्म के समय एकदम निरोग और स्वस्थ होती है। बाद में रोगिणी माता का दूषित दूध पीने से तथा उसके पास रहने से बालक के शरीर में इस रोग के जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं और वह रोगग्रस्त हो जाता है।

गायों को यह रोग बड़ी शीघ्रता से लगता है। यही कारण है कि प्राय गायों को तपेदिक से ग्रस्त पाया जाता है। ऐसी गायों का दूध पीने से भी रोग हो

जाता है। दूध लेते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि स्वस्थ मोटे ताजे गाय का दूध हो। दूध को भली प्रकार उबाल कर पीना चाहिए।

रोगक्षमता—इस रोग के विरुद्ध कृत्रिम रूप से रोगक्षमता उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसके एक आक्रमण के बाद रोगक्षमता होने का प्रश्न भी नहीं उठता, क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि जिसे यह रोग एक बार होता है उसे फिर जीवन भर छोड़ता नहीं है। हाँ कुछ लोग जो अत्यन्त उत्तम स्वास्थ्य वाले होते हैं उन पर राजयक्ष्मा के जीवाणु भी अपना प्रभाव नहीं जमा सकते। ऐसे मनुष्यों में राजयक्ष्मा क्या सभी रोगों के प्रति रोगक्षमता होती है। किसी दुःख, चिन्ता अथवा अन्य किसी कारणवश यदि इनकी जीवनशक्ति (vitality) और स्वास्थ्य निर्बल पड़ जाता है तो इन्हें भी रोग लग जाता है।

सम्प्राप्तिकाल—इस रोग के जीवाणु शरीर में पहुँच कर धीरे-धीरे बढ़ते रहते हैं और अपना प्रभाव जमाते रहते हैं। शरीर धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है, पर रोगी तथा अन्य लोगों को इसका जल्दी आभास ही नहीं मिल पाता। रोग के काफी बढ़ जाने पर ही साधारणतः इसका पता चलता है।

लक्षण—तपेदिक में साधारणतः फेफड़े खराब होते हैं। इस रोग के लक्षण हल्की खाँसी व हल्का बुखार रहना है। इसके अतिरिक्त रोगी का वजन धीरे-धीरे कम होता जाता है और ठीक से भूख नहीं लगती कोई भी शारीरिक परिश्रम का कार्य करने से अत्यधिक थकान हो जाती है और ज्वर का ताप तुरन्त बढ़ जाता है। रोग अधिक बढ़ने पर खाँसते समय बलगम के साथ खून भी गिरता है। रोगी का चेहरा गुलाबी तथा आँखें चमकती हुई प्रतीत होती हैं। वह साधारण से कुछ जल्दी साँस लेता है। उसमें आलस्य की भावना बहुत बढ़ जाती है। एक्सरे (X-ray) द्वारा फेफड़ों का चित्र लेने पर वहाँ पर जितनी दूर तक इसके जीवाणु अपना शासन जमाये होते हैं स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

कभी-कभी यह रोग फेफड़ों में न होकर आँतों अथवा हड्डियों में होता है, किन्तु फेफड़ों का तपेदिक ही अधिकतर देखने में आता है। हड्डियों के तपेदिक

में हड्डियाँ एकदम निर्जीव हो जाती हैं, रोगी की वृद्धि रुक जाती है और वह अपने शरीर से किसी प्रकार का कार्य नहीं ले सकता। आँतों के तपेदिक को आरम्भ में प्राय लोग सग्रहणी, पेचिश, या साधारण दस्त ही समझते हैं। सदा रोग अधिक बढ़ने पर ही पहचान में आता है।

उपचार—इस बीमारी की सर्वोत्तम चिकित्सा शुद्ध वायु, धूप और शुद्ध जल तथा उचित मात्रा में स्वास्थ्यप्रद भोजन है। रहने के स्थान तथा आस-पास की सफाई का ध्यान रखना भी बहुत आवश्यक है। इस प्रकार सफाई और स्वच्छता का ध्यान रखने और नियमित जीवन बिताने से ही यह रोग दूर हो जाता है। इसके लिये अभी तक कोई उपयोगी औषधि नहीं मालूम हो सकी है।

राजयक्ष्मा के रोगियो की चिकित्सा के लिये अब भारतवर्ष में भी कई चिकित्सागृह (sanatorium) खुल गये हैं। इन चिकित्सागृहों में जीवन की नियमित दिनचर्या, शुद्ध वायु और धूप तथा खान-पान सम्बन्धी देखभाल द्वारा ही रोगी को स्वस्थ करने का प्रयत्न किया जाता है। इन बातों के साथ-साथ किसी अच्छे डाक्टर की देखभाल और चिकित्सा में रहने से बहुत से रोगी अपना खोया हुआ स्वास्थ्य फिर से प्राप्त कर लेते हैं। चिकित्सा से रोग अच्छा तो अवश्य हो जाता है किन्तु यह कहना कि उसके शरीर से रोग समूल निकल गया है कठिन है। अत. चिकित्सागृह से अच्छे होकर बाहर आने पर मनुष्य को अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है। चिकित्सागृह से निकलने के बाद यदि वह फिर गन्दे स्थानों पर रहे, स्वच्छता का ध्यान न रखे, भोजन आदि के नियमों को छोड़ दे, शुद्ध वायु और धूप पाने का ध्यान न रखे, तो अवश्य शीघ्र ही उसे रोग फिर हो जायगा।

बहुत ठंढी या बहुत गर्म जलवायु तपेदिक के रोगी के लिये ठीक नहीं होती। अतः इन दोनों ही ऋतुओं से रोगी मनुष्यों को बचना चाहिये। ताजे फल, दूध और उत्तम स्वास्थ्य-प्रद भोजन खाने से स्वास्थ्य सदा ठीक बना रहता है और रोग के फिर से उभड़ने का डर नहीं रहता। अच्छे होने पर रोगी को अन्य सब साधारण रोगों के रोगियों से भी विशेष रूप से बचना चाहिये।

यदि उसे अन्य किसी रोग की छूत लग गई और उसका एक आक्रमण हो गया तो उसका अर्जित किया हुआ स्वास्थ्य फिर गिर जायगा, उसकी जीवन-शक्ति क्षीण हो जायगी और ऐसी अवस्था में उसके पुराने रोग (राजयक्ष्मा) के फिर से उभड़ने की पूरी समावना रहेगी। अत एक बार इस रोग पर विजय पाने के बाद बहुत अधिक सावधानी से रहने की आवश्यकता होती है।

रोग से बचने के उपाय—कुटुम्बियों तथा पड़ोसियों को इस घातक रोग से बचाने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि रोगी को सबसे अलग रखा जाय। जितने दिनों रोगी घर में रहे उसे सबसे अलग, खुले हवादार कमरे में रखना चाहिए। यदि घर में बाग बगीचा है तो वहाँ कोई छायादार स्थान या झोपड़ी बनाकर रोगी को रखना अधिक अच्छा होता है। रोगी का सब सामान अलग होना चाहिए और अन्य किसी के उपयोग में न आना चाहिए। रोगी के पास परिचारक के अतिरिक्त अन्य किसी को न रहना चाहिए। बच्चों को तो रोगी के समीप किसी भी अवस्था में नहीं जाने देना चाहिए। रोगी का थूक, बलगम, मल-मूत्र रोग के जीवाणु फैलाते हैं। अत इन्हें एक ऐसे बर्तन में रखना चाहिए जिसमें फिनायल या अन्य कोई विसक्रामक घोल भरा हो। बाद को इन पदार्थों को जलवा देना चाहिए। यदि किसी कारणवश जलवाने का प्रबन्ध न हो सके तो भी शहर की बस्ती से दूर कहीं एकान्त में गड्ढा खुदवाकर गड़वा देना चाहिए। कभी भूल कर भी इन गन्दगियों को खुली सड़कों आदि पर न फेंकना चाहिए अन्यथा मक्खियों द्वारा रोग फैलता है। इसके अतिरिक्त सूखने पर इनके कण हवा में उड़ कर भी रोग फैलाते हैं। रोगी के बर्तनों तथा वस्त्रों को भी विसक्रामक पदार्थों द्वारा शुद्ध करते रहना चाहिए। रोगी के वस्त्र धोबी को देने के पहले किसी विसक्रामक घोल में भिगोने के बाद खूब तेज धूप में सुखा लेने चाहिए। बचाव के इन सब उपायों के साथ साथ प्रत्येक प्राणी को अपने स्वास्थ्य को भी ठीक रखने की ओर पूर्णरूप से ध्यान देना चाहिए।

म्यूनिसिपैलिटी के पशुचिकित्सा विभाग (veterinary department) का कर्तव्य है कि वह यदा-कदा शहर भर की सब गायों के स्वास्थ्य

की परीक्षा करता रहे। यदि किसी गाय को यह रोग हो तो पशु अस्पताल में उसकी चिकित्सा होनी चाहिए, और उसका दूध पीने के काम में न लाना चाहिए।

जिस समय शहर या नगर बस रहा हो अथवा उसमें कोई नई बस्ती बढ़ रही हो तब इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मकान बहुत सटे हुए न बनें, और गलियाँ पतली न हों। इसके अलावा छोटे से छोटा मकान भी खूब स्वच्छ और हवादार हो। गलियों व मकानों की नालियाँ पक्की हों और उनके ढाल ठीक हों जिससे गन्दा पानी एकत्र न होने पाये। प्रत्येक मकान का पाखाना ठीक ढङ्ग से बने जिससे उसमें भी धूप और हवा का प्रवेश हो सके। इस प्रकार स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रारम्भिक बातों का आरम्भ से ही ध्यान रखने से यह रोग पास फटकने नहीं पाता। इस रोग की मुख्य जड़ गन्दगी है और जब गन्दगी ही रहेगी तो रोग स्वय ही दूर रहेगा।

प्रश्न

(१) चेचक के फैलने के साधन और उससे बचने के उपाय बतलाइये।
(२) छोटी माता के रूप, लक्षण और उससे बचने के उपाय लिखिये।
(३) खसरा की विशेष पहचानें क्या हैं?
(४) कुकुर खाँसी से किस प्रकार रक्षा की जा सकती है?
(५) डिप्थीरिया के रूप और लक्षण बतलाइये? इस रोग से रक्षा करने के लिये क्या उपाय करने चाहिये?
(६) इन्फ्लुएञ्जा की क्या पहचानें हैं? इससे कैसे बचाव किया जा सकता है?
(७) कनफेर की छूत कैसे फैलती है?
(८) क्षयरोग कैसे फैलता है? इसके विरुद्ध रोग क्षमता कैसे प्राप्त की जा सकती है?
(९) क्षयरोग से बचने के लिए क्या उपाय करने चाहिए?
(१०) क्षयरोग के चिकित्सागृहों में चिकित्सा के क्या उपाय किये जाते हैं?

अट्ठारहवाँ अध्याय

संक्रामक रोग (२)

(पानी, दूध और भोजन से फैलने वाले रोग)

जितने वायु से फैलने वाले रोग हैं वे सब दूध या भोजन द्वारा भी फैलते हैं, पर उनके फैलने का मुख्य साधन हवा ही होती है। इसी प्रकार कुछ रोग ऐसे भी हैं जिनके फैलने का मुख्य साधन दूध और भोजन हैं। जो रोग दूध और भोजन द्वारा फैलते हैं वे पानी द्वारा भी फैलते हैं। इनमें मुख्य हैजा, पेचिश और टायफायड हैं।

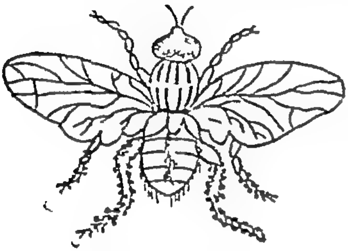
हैजा (cholera)

रोग के लक्षण और रूप—हैजे मे दस्त और वमन खूब होते हैं किन्तु ज्वर साधारणत. नहीं होता। दस्त पानी से पतले और सफेद रङ्ग के होते हैं। इनका रूप चावल के माड़ सा होता है। रोगी को प्यास बहुत लगती है। साधारणत हैजे का प्रकोप एक दिन से तीन दिन तक चलता है। कभी-कभी रोग एकदम इतनी तीव्रता से उभड़ता है कि २४ घंटे के भीतर ही मनुष्य मर जाता है। इसलिए तनिक सा भी अंदेशा होते ही तुरन्त किसी योग्य चिकित्सक से चिकित्सा करवानी चाहिए।

अधिकतर गर्मी और वर्षा ऋतु में ही यह रोग खूब फैलता है और शीतऋतु आने पर समाप्त हो जाता है। गन्दे स्थानों पर रहने से, बासी दूषित भोजन करने से तथा गन्दा पानी पीने से यह रोग होता है। यह रोग अधिकतर पानी द्वारा ही फैलता है। यों इसके जीवाणु प्राय भोजन और दूध द्वारा भी शरीर मे प्रवेश करते हैं।

रोग का सवहन—रोगी के मल-मूत्र को तालावों, नदियों व कुओं के पास फेंकने से या रोगी के गन्दे वस्त्र वहाँ धोने से रोग के जीवाणु उस स्थान के जल में पहुँच कर जल को दूषित कर देते हैं। फिर उस जल का सेवन करने वाले सभी लोग हैजे के शिकार हो जाते हैं।

भोजन और दूध में इन जीवाणुओं को मक्खियाँ पहुँचाती हैं। ये जब हैजे के किसी रोगी के मल-मूत्र, वमन आदि पर बैठती हैं तो वहाँ से जीवाणु अपने पैरों और परों में चिपका लेती हैं और फिर भोजन व दूध पर बैठकर उनमें पहुँचा देती हैं।



चित्र ४१—मक्खी

हैजे के जीवाणु—इस रोग का जीवाणु कौमा बैसिलस (coma bacillus) कहलाता है क्योंकि इसका आकार अर्द्धविराम चिन्ह (,) के समान होता है और अंग्रेजी भाषा में यह चिन्ह कौमा (coma) कहलाता है। यह जीवाणु शुष्कता और ताप को सहन नहीं कर सकता, इसके जीवित रहने के लिए नमी की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि रोगी के मल-मूत्र व वमन आदि के सूखने पर उनमें उपस्थित जीवाणु मर जाते हैं और फलस्वरूप वायु द्वारा इस रोग के फैलने की कोई सभावना नहीं रहती।

सम्प्राप्तिकाल—इस रोग का सम्प्राप्तिकाल कुछ घटों से लेकर ५ दिन तक का होता है

रोगक्षमता—हैजे के प्रति प्राकृतिक रोगक्षमता किसी में भी नहीं होती। जिनका स्वास्थ्य उत्तम होता है उनके शरीर में थोड़ी सख्या मे पहुँचने पर इसके जीवाणु कोई प्रभाव नहीं डाल पाते, पर इन लोगों के शरीर में भी यदि ये जीवाणु अधिक सख्या में एक साथ पहुँच जायँ तो उन्हें रोग हो जाता है। इस रोग के एक आक्रमण से भी कोई रोगक्षमता भविष्य के लिए उत्पन्न नहीं होती। हैजे के प्रतिविष का इजेक्शन लगवाने से कृत्रिम रूप से रोगक्षमता प्राप्त की जा सकती है। इसका प्रभाव भी ५-६ महीने से अधिक नहीं रहता।

से धुलवाना चाहिए। हैजे के प्रकोप के समय तो प्रतिदिन इस प्रकार धुलवाना ही ठीक है।

पीने के पानी की स्वच्छता का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। पीने के पानी को उबाल और छान कर साफ बर्तनो में ढक कर रख लेना चाहिए।

अधिकतर यह रोग तीर्थ स्थानो मे आरम्भ होता है और वहाँ से यात्रियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर फैलता है। अतः यात्रियों पर विशेष नियन्त्रण रखने और ध्यान देने की आवश्यकता होती है। जो यात्री तीर्थ-स्थान पर आयें उनको हैजे का टीका लगाना चाहिए। तीथ स्थानों पर विशेष रूप से तथा विशेषकर मेले आदि के अवसरों पर शहर की सफाई आदि का पूरा पूरा ध्यान रखना वहाँ की म्यूनिसिपैलिटी का कर्त्तव्य है। तीर्थस्थानों से मेला समाप्त होने के बाद जब यात्री अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचें तो उनकी पूर्ण रूप से डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिये। हैजे का सम्प्राप्तिकाल ५ दिन है, अत स्टेशन के समीप ५ दिन तक इन यात्रियों को ठहराने का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। यदि इनमें से किसी को हैजे की छूत लगी है तो इस समय में अवश्य ही उसे रोग हो जायगा। ऐसे रोगियों को अस्पताल में भेज कर उनकी उचित चिकित्सा करवानी चाहिए। शेष लोगों को ५ दिन पश्चात् स्वतत्र कर देना चाहिए।

हैजे के दिनों में बाजार की बनी मिठाई आदि बिल्कुल नहीं खानी चाहिए। बाजार से खरीदी हुई तरकारी व फल पोटाश परमैंगनेट के पानी से धोने के उपरान्त ही उपयोग मे लाना चाहिए। अधिक पके हुए फल व बासी भोजन न खाना चाहिए।

हैजे के दिनों में खाने-पीने के सम्बन्ध में सयम का ध्यान रखना चाहिए। कोई गरिष्ठ भोजन जिससे अपच होने की सम्भावना हो न खाना चाहिए। तनिक अपच अनुभव होते ही तुरन्त डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए। जब शहर में हैजे का प्रकोप हो उस समय दस्त लाने वाली दवाइयों का प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

स्वत उतर जाता है। इसका समय ७, १४, २१ व २८ दिन होता है।

रोग का रूप और लक्षण—इसके जीवाणु रोगी की बड़ी अँतड़ियों में रहते हैं। यहाँ से यकृत मे पहुँचते हैं और फिर वहाँ से समस्त शरीर में। प्रायः यकृत में जीवाणु फोड़ा (abcess) उत्पन्न कर देते हैं जिससे रोगी की दशा अधिक खराब हो जाती है।

इस रोग में ज्वर का ताप प्रातःकाल कम रहता है और दिन चढ़ने के साथ साथ ज्वर की तेजी भी बढ़ती जाती है। रात्रि होने पर ज्वर का बढ़ना बन्द हो जाता है और फिर कुछ समय पश्चात् ज्वर कम होना आरम्भ हो जाता है। ज्वर का प्रतिदिन यही क्रम रहता है। साधारणतः ज्वर २१ दिन में उतरता है। समस्त शरीर अत्यन्त निर्बल हो जाता है। अतः अन्य खराबी होने की सभावना रहती है। दूसरे झंझट उपस्थित होने पर रोगी की दशा बिगड़ जाती है और जीवन सकट में पड़ जाता है। प्रायः टायफायड के रोगी की आँतों में घाव हो जाते हैं। इस रोग के रोगी की देखभाल और सेवा सुश्रूषा में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। रोगी को बिल्कुल हिलाना-डुलाना नही चाहिये। हिलाने से रोगी को बहुत हानि पहुँचती है। रोगी का सब काम उसे लेटाये लेटाये ही करना होता है। अतः उसकी परिचर्या किसी योग्य व्यक्ति के सुपुर्द होनी आवश्यक है। रोगी की चिकित्सा किसी योग्य डाक्टर से करवानी चाहिये। रोग अच्छा होने की अवस्था में रोगी का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। थोड़ी सी भी लापरवाही से रोग फिर उभड़ (relapse) जाता है और रोगी का जीवन सकट में पड़ जाता है।

टायफायड का जीवाणु और उसका सवहन—टायफायड भी एक अत्यन्त सक्रामक रोग है। इसका जीवाणु टायफोसस बैसिलस (typhosus bacillus) कहलाता है। यह जीवाणु अधिकतर पानी और दूध तथा भोजन द्वारा फैलता है। रोगी के मल मूत्र व थूक में जीवाणु उपस्थित रहते हैं। इन वस्तुओ को कुओं व तालाबों के समीप अथवा नदियों में डालने से वहाँ के पानी में जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं और फिर उस दूषित जल को पीने वालो को रो

हो जाता है। रोगी के मल-मूत्र व थूक आदि पर यदि मक्खियाँ बैठ जाती हैं तो वे भी जीवाणुओं को वहाँ से लाकर हम लोगों के दूध व भोजन तक पहुँचाती हैं। अतः यह आवश्यक है कि रोगी के मल-मूत्र व थूक आदि को तीव्र विसंक्रामक पदार्थ में रखा जाय और तत्पश्चात् उसे जला या गाड़ दिया जाय।

आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि खटमल भी सम्भवतः इस रोग को फैलाने का काम करते हैं। रोगी के रुधिर में भी रोग के जीवाणु वर्तमान रहते हैं। यदि रोगी के पलंग में खटमल हैं तो वे रोगी का रक्त चूसने के साथ साथ कुछ जीवाणु भी चूस लेते हैं। यही खटमल फिर जब अन्य किसी को काटते हैं तो जीवाणु उसके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

टायफायड का रोगी निरोग होने पर भी कुछ दिनों तक जीवाणुवाहक (germ-carrier) का काम करता है। अतः अच्छे होने के कुछ दिन पश्चात् तक उसके मल-मूत्र और थूक का विसंक्रामण करना आवश्यक होता है।

सम्प्राप्तिकाल—साधारणतः इसका सम्प्राप्तिकाल १२-१४ दिन का है, किन्तु कभी कभी ८-१० दिन से ३० दिन तक लगते हैं।

रोगक्षमता—बहुत कम लोगों में इसके विरुद्ध प्राकृतिक रोगक्षमता होती है। किन्तु साधारणतः इसके एक आक्रमण से इसके विरुद्ध रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है और फिर दुबारा यह रोग नहीं होता। पर कभी कभी इसके अपवाद भी पाये गये हैं। कुछ मनुष्यों को दो-तीन बार टायफायड होता देखा गया है। ऐसी दशा में या तो रोग बहुत हलका सा होकर अच्छा हो जाता है और या घातक ही सिद्ध होता है। टायफायड के प्रतिविष का टीका लगवा लेने से कृत्रिम रोगक्षमता प्राप्त की जा सकती है।

रोग से बचने के उपाय—रोग का ज्ञान होते ही रोगी को तुरन्त अन्य व्यक्तियों से अलग एक खुले हवादार कमरे में रखना चाहिए। रोगी के कमरे या आस पास के स्थान की सफाई का खूब ध्यान रखना चाहिए। रोगी के मल

मूत्र आदि का विसंक्रामण करके उसे जला डालना चाहिये। उसके काम में आने वाले बर्तन आइजाल के घोल में कुछ देर भिगाये रखने के बाद उबलते पानी से धो डालने चाहिये। रोगी के कपड़ों, तौलियों व थर्मामीटर आदि को फार्मेलीन के घोल से शुद्ध करते रहना चाहिये। उसके बिस्तर को बीच-बीच में बदलते और धूप दिखाते रहना चाहिए। रोगी के स्वस्थ हो जाने पर इन सब चीजों का भली प्रकार संक्रामण करने के बाद उन्हें खूब धूप दिखा लेनी चाहिये। पुराने व कम कीमती कपड़ों को जला देना अधिक उचित है। बाद में कमरे का भली प्रकार विसंक्रामण करना चाहिये।

परिचारिका या नर्स का कर्त्तव्य है कि रोगी व उसकी चीजों के छूने अथवा उसका कोई काम करने के बाद अपने हाथ कार्बोलिक साबुन से धो ले। उसे कपड़ों की सफाई का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये। रोगी के कमरे में बैठकर कभी कोई चीज खानी-पीनी नहीं चाहिये। रोगी के कमरे से बाहर आकर और अपने कपड़े बदल कर तथा हाथ-मुँह भली प्रकार कार्बोलिक साबुन से धोकर ही उसे भोजन करना चाहिये।

रोगी के घर वालों का कर्त्तव्य है कि वे अपने शहर व गाँव के स्वास्थ्य विभाग को रोग की सूचना तुरन्त दे। इस सूचना को पाने के उपरान्त स्वास्थ्य-विभाग का कर्त्तव्य है कि वह शहर की सफाई, कुओं तालाबों तथा अन्य पानी के स्थानों की सफाई तथा बाजार की खान-पान की चीजों के निरीक्षण का कार्य विशेष सावधानी और तत्परता से करे। उसकी थोड़ी सी लापरवाही से यह रोग शहर भर में फैल सकता है। उस दशा में उसका कार्य और उत्तरदायित्व दोनों ही बढ़ जायँगे। अतः उसे आरम्भ से ही सावधानी से काम करना चाहिये।

पेचिस

रूप और लक्षण—पेचिस दो प्रकार की होती है। एक तो अमीबा (amoeba) नामक जीवाणु द्वारा होती है (amoebic dysentery)

और दूसरी अन्य जीवाणुओं द्वारा (bacillary dysentery)। प्रथम प्रकार की पेचिश में दिन में ४-६ बार ही रोगी को दस्त आते हैं। दस्त आने के पूर्व रोगी के उदर में ऐंठन (मरोड़) उठती है जिससे रोगी को बहुत कष्ट मालूम पड़ता है। साधारणतः रोगी को ज्वर नहीं होता। मल के साथ-साथ रक्त और आँव भी निकलती है। यह रोग साधारणतः अधिक समय तक चलता है।

दूसरे प्रकार की पेचिश का रूप अधिक तीव्र होता है। दिन में २०-२५ बार तक दस्त होते हैं। पेट में ऐंठन और दर्द खूब होता है। मल तो बहुत कम रहता है अधिकतर आँव और रक्त ही गिरता है। रोगी को ज्वर खूब तीव्र—१०३ से १०४°—हो जाता है। ये जीवाणु रोगी की अँतड़ियों में घाव कर देते हैं। इससे वे अपना पाचन-कार्य नहीं कर पातीं। रोगी के उदर में पीड़ा भी इन्हीं घावों के कारण होती है। रोगी बहुत कमजोर हो जाता है। शीघ्र से उसे बचाने का पूरा प्रबन्ध रखना चाहिये।

जीवाणुओं का संवहन—पेचिश के जीवाणु भी हैजे की भाँति जल, दूध तथा भोजन द्वारा फैलते हैं।

सम्प्राप्तिकाल—हैजे की भाँति इसका सम्प्राप्तिकाल भी कुछ घंटे से लेकर २-३ दिन तक का होता है। कभी-कभी ४-५ दिन भी लगते हैं।

रोगक्षमता—इस रोग के विरुद्ध रोगक्षमता न तो प्राकृतिक रूप से ही लोग में होती है और न कृत्रिम रूप से उत्पन्न की जा सकती है। रोग के एक बार हो जाने से भी रोगक्षमता उत्पन्न नहीं होती है।

रोग से बचने के उपाय—रोगी को सबसे पृथक् और स्वच्छ तथा खुले स्थान में रखना चाहिए जिससे उसे पर्याप्त मात्रा में शुद्ध वायु मिल सके। रोगी के मल के विसंक्रमण तथा जलाने का उचित प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि रोगी के मल में ही इस रोग के जीवाणु रहते हैं। उसका उचित रूप नाश करने से बीमारी नहीं फैलने पाती। भूल कर भी कभी पानी के स्थानों

कुओं, तालाबों व नदियों आदि के पास रोगी का मल नहीं फेंकना चाहिए। शहर की म्यूनिसिपैलिटी को रोग की सूचना तुरन्त देनी चाहिये। म्यूनिसिपैलिटी का कर्त्तव्य है कि वह नगर की स्वच्छता का, विशेष कर पानी और बाजार में बिकने वाले भोजन की परीक्षा का, विशेष प्रबन्ध करे। कुओं और तालाबों के पानी की शुद्धि पोटाश परमैंगनेट से करवानी चाहिए। सड़कों आदि की सफाई तथा नगर की गन्दगी को हटाने का उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है।

भोजन की शुद्धि पर प्रत्येक मनुष्य को विशेष ध्यान देना चाहिए। पानी उबालकर और छानकर पीना उचित है। भोजन स्वच्छता से पका हुआ ताजा ही खाना चाहिये। बासी भोजन, बाजार की मिठाइयाँ तथा कच्चे या अधिक पके फल न खाने चाहिये। भोजन को ढक कर मक्खियों से बचाने का विशेष ध्यान रखना चाहिये। घरों के पाखानों, गोशालाओं आदि की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। इन सब स्थानों को फिनायल से प्रतिदिन धुलवाना चाहिये। विसंक्रामक वस्तुओं से विसंक्रामण करने के बाद भी रोगी की वस्तुओं को काफी धूप दिखला लेना अच्छा होता है। पेचिस के जीवाणु धूप में बड़ी शीघ्रता से मरते हैं।

स्वच्छता और स्वास्थ्य सम्बन्धी उक्त बातों का ध्यान रखने से इस रोग से सब बच सकते हैं।

अतिसार (diarrhoea)

अतिसार में पाचन-क्रिया उचित ढङ्ग से नहीं होती। फलस्वरूप भोजन ठीक से नहीं पचता और पतले दस्त आते हैं। दस्तों की संख्या ८ से २५ या उससे भी अधिक तक होती है। प्रायः साधारण ज्वर भी रहता है। बच्चों को यह रोग अधिक होता है। बच्चों को प्रायः हरे रंग के दस्त आते हैं। ५ वर्ष से छोटे बच्चों की मृत्यु इस रोग से काफी संख्या में होती है।

रोग का संवहन—हैजे व पेचिस की भाँति इस रोग के जीवाणु भी भोजन व पानी द्वारा फैलते हैं। मक्खियाँ इन्हें भोजन तक पहुँचाने में विशेष भाग लेती हैं।

(२) टायफायड ज्वर की क्या पहचान है ? यह रोग कैसे फैलता है ?
(३) टायफायड के विरुद्ध रोगक्षमता कैसे प्राप्त की जा सकती है ?
(४) पेचिश के कारण और उपचार बताइये ।
(५) अतिसार से बचने के लिये आप क्या उपाय करेंगी ?

उन्नीसवाँ अध्याय

संक्रामक रोग (३)

(कीड़ों और जीव-जन्तुओं द्वारा फैलने वाले रोग)

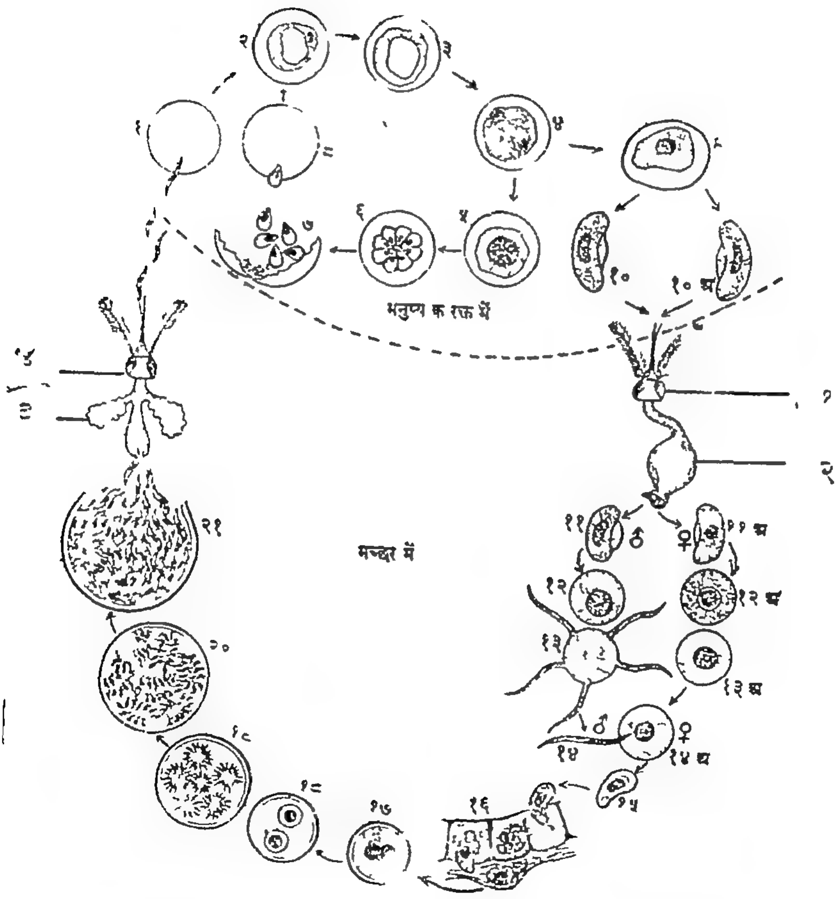
मलेरिया

मलेरिया को साधारणतः लोग जूड़ी बुखार कहते हैं क्योंकि यह ज्वर सदैव सदा लग कर चढ़ता है और इसमें कँपकपी बहुत लगती है। जैसे-जैसे कँपकपी बढ़ती है ज्वर की तेजी भी बढ़ती जाती है। यह ज्वर कई प्रकार का होता है। कभी तो ज्वर सर्दी लगने के उपरान्त खूब तेज होता है और २-३ या ४-५ दिन में उतर जाता है। कभी ज्वर २४ घण्टे में ही उतर जाता है, पर प्रत्येक दूसरे या तीसरे दिन चढ़ आता है। कभी कभी ज्वर चौथे दिन चढ़ता है। ज्वर साधारणतः खूब तेज १०३° से १०४° तक रहता है। सिर में तथा समस्त शरीर में असह्य पीड़ा होती है।

यह ज्वर एनाफिलीज जाति के मादा मच्छर द्वारा फैलता है। मलेरिया के जीवाणु इस विशेष मच्छर के शरीर में पनपते हैं। जब ये मच्छर किसी स्वस्थ मनुष्य को काटते हैं तब मच्छर के मुख से निकल कर मलेरिया के जीवाणु उस मनुष्य के रक्त में प्रवेश कर जाते हैं। मनुष्य के रक्त में पहुँचकर ये जीवाणु लाल रक्त-कणों में प्रवेश कर वहीं बढ़ते हैं। जब इन जीवाणुओं की संख्या पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाती है तभी ज्वर चढ़ता है। ज्वरग्रस्त मनुष्य को जो मच्छर (एनाफिलीज जाति का) काटता है वह उसके रुधिर के साथ-साथ मलेरिया के जीवाणुओं को भी चूस लेता है। ये जीवाणु उसके शरीर में पनपते हैं और फिर जब यही मच्छर किसी स्वस्थ मनुष्य को काटता है तो उसके शरीर में पहुँच कर यही जीवाणु रोग फैलाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मलेरिया वास्तव में मच्छर के काटने मात्र से नहीं होता। यदि काटने वाला मच्छर एनाफिलीज मादा मच्छर हो जिसके शरीर में मलेरिया के जीवाणु उपस्थित हों, तभी उसके

काटने से मलेरिया होता है, अन्यथा नहीं। अत. मलेरिया ज्वर का कारण तो मलेरिया के जीवाणु होते हैं, मच्छर तो केवल उन्हें फैलाने का साधन मात्र हैं।

सम्प्राप्तिकाल—मच्छर के काटने के नौ से बारह दिन के भीतर ज्वर होता है।



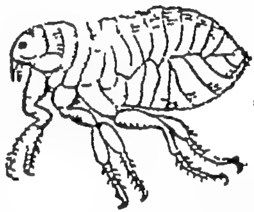
चित्र ४६—मलेरिया के जीवाणु का जीवन इतिहास

[१—मच्छर का मुख, २—मच्छर का आमाशय, ३—मच्छर का लारग्रन्थियाँ ४—मच्छर का मुख]

समय में चिकित्साशास्त्र की उन्नति से प्लेग पर भी कुछ अंशों में विजय पाई जा सका है।

रोग का कारण—प्लेग रोग का कारण 'बैसिलस पेस्टिस' (bacillus pestis) नामक जीवाणु है। जब ये जीवाणु मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं तो वहाँ इनकी वृद्धि होती है और वह मनुष्य रोग का शिकार हो जाता है।

रोग का संवहन—प्रायः सुनने में आता है कि प्लेग चूहों द्वारा फैलता है, पर वास्तव में यह पूर्ण सत्य नहीं है। चूहे प्लेग नहीं फैलाते। प्लेग तो पिस्सुओं (fleas) द्वारा फैलता है। पिस्सू बिना पंख के छोटे कीड़े हैं जो उड़ नहीं सकते। ये लगभग १ फुट ऊपर तक उछल सकते हैं। पिस्सू मनुष्य तथा कई पशुओं के रक्त को चूस कर अपना पेट भरते हैं। ये विशेष रूप से चूहों पर रहते हैं। जब किसी प्लेग के रोगी चूहे का रक्त चूसने से बैसिलस पेस्टिस पिस्सू के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं तो वे वहीं बढ़ने लगते हैं। जब यही पिस्सू फिर किसी चूहे को या मनुष्य को काटता है तो उसे प्लेग हो जाता है। चूहों में प्लेग के विरुद्ध रोगक्षमता बिल्कुल भी नहीं होती। अतः वे बड़ी शीघ्रता से इस रोग के शिकार हो जाते हैं। प्लेग से पीड़ित चूहों का रक्त उनके शरीर पर रहने वाले पिस्सू खूब चूसते हैं। जब रोगी चूहे मर जाते हैं तो पिस्सू उन्हें छोड़ कर रक्त की खोज में इधर उधर घूमते हैं। ये पिस्सू जिस मनुष्य या पशु को काटते हैं उसके शरीर में प्लेग के जीवाणु पहुँचा देते हैं। यदि किसी घर में चूहे न हों तो वहाँ पिस्सू भी नहीं रहते और इस प्रकार प्लेग के जीवाणुओं के आक्रमण की सम्भावना भी नहीं रहती। प्लेग सदा चूहों से ही पहले आरम्भ होता है और पिस्सुओं को आश्रय देने के कारण चूहे प्लेग फैलाने में मुख्य कारण होते हैं। इसीसे प्लेग और चूहों में अटूट सम्बन्ध सा स्थापित हो गया है। प्लेगग्रस्त चूहा यदि किसी खाद्य-सामग्री को जूठा कर दे तो उसे खाने से भी प्लेग हो जाता है। कभी-कभी प्लेगग्रस्त मनुष्य के मल-मूत्र, थूक, वमन आदि से



चित्र ४७—पिस्सू

भी बैसिलस पेस्टिस वायु में भी मिल जाते हैं और फिर इस वायु में साँस लेने वाले लोगों को भी प्लेग हो जाता है। अन्तिम दोनों प्रकार से यह रोग बहुत ही कम फैलता है, मुख्यत तो पिस्सुओं के काटने से ही फैलता है।

रोग का लक्षण और रूप—इस रोग में ज्वर अकस्मात् चढ़ता है और बहुत जल्दी ही खूब तेज हो जाता है। १०४° या १०५° तक ज्वर बराबर रहता है और कभी कभी १०७° तक भी पहुँच जाता है। रोगी अत्यन्त बेचैनी अनुभव करता है। ज्वर की तीव्रता के कारण प्यास भी खूब लगती है। रोगी की आँखें अन्दर बैठती हुई प्रतीत होती हैं। उसका चेहरा एकदम रक्तहीन, पीला और मुरझाया हुआ हो जाता है। देखने से ही रोगी की दशा भयानक और चिन्ताजनक लगने लगती है। चार पाँच दिन बाद रोग की गिल्टी निकलती है। यह गिल्टी लगभग तीन-चौथाई रोगियों में दाहिनी जाँघ के ऊपरी भाग में निकलती है। कुछ रोगियों में गिल्टी बगल में भी निकलती है। कभी कभी रोगी को दस्त और वमन भी होने लगते हैं। रोगी अधिकतर चेतनाहीन-सा रहता है और उसका समस्त शरीर शीघ्रता से शिथिल पड़ता जाता है। मृत्यु प्राय गिल्टी निकलने के एक दो दिन के भीतर ही होती है। यदि गिल्टी और ज्वर की तेजी कम होने लगे तो रोगी के स्वस्थ होने की आशा की जा सकती है।

इस रोग के दूसरे रूप में जीवाणु रुधिर में अत्यधिक बढ़ जाते हैं और रोगी का हृदय शीघ्रता से शिथिल पड़ने लगता है। ज्वर १०२°-१०३° ही रहता है, पर हृदय की शिथिलता से उन्माद होने लगता है और मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग का एक तीसरा रूप भी है। इस अवस्था में प्लेग के जीवाणु फेफड़ों में पहुँच कर निमोनिया के से लक्षण उत्पन्न करते हैं। यह प्राय तभी होता है जब जीवाणु वायु द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। इस अवस्था में प्राय पहचानने में कठिनाई होती है और उसका उपचार निमोनिया समझ कर

होता है। फलस्वरूप रोग बढ़ता जाता है और रोगी को बचा सकना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

सम्प्राप्तिकाल—बैसिलस पेस्टिस के शरीर में प्रवेश करने के २४ घण्टे से १२ दिन के भीतर रोग प्रकट होता है।

रोगक्षमता—इस रोग के प्रति हमारे शरीर में प्राकृतिक रोगक्षमता नहीं होती। प्लेग के जीवाणुओं से तैयार की गई औषधि (वैक्सीन) के इंजेक्शन लेकर शरीर में कृत्रिम रूप से रोगक्षमता उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार से प्राप्त की गई रोगक्षमता का प्रभाव १ वर्ष से १½ तक होता है।

रोग से बचने के उपाय—जैसा कि हम पढ़ चुके हैं हमारे शरीर में प्लेग के जीवाणुओं का प्रवेश पिस्सुओं के काटने से होता है। ये पिस्सू मुख्यत. चूहों के शरीर पर पलते हैं। अत प्लेग से बचने का सर्वोत्तम साधन चूहों का नाश करना है। जब घर में चूहे नहीं रहेंगे तो पिस्सू भी नहीं आ पायेंगे और हमें प्लेग का भय नहीं रहेगा। चूहों को नष्ट करने के लिये हमें सफाई और सावधानी से रहना सीखना होगा। यदि हमारे भाडार घर में सब सामान इस प्रकार ढक कर रखा जाय कि चूहे कोई खाद्य सामग्री न पा सकें तो ऐसे स्थान पर चूहे नहीं रह सकेंगे। इसके विपरीत यदि वे भाडार व रसोई घर में खाने के लिये पर्याप्त सामान पायेंगे तो वहा अपना निवास स्थान बना लेंगे और दिनों-दिन उनकी सख्या में वृद्धि होती जायगी।

प्लेग के चूहें के मरने की विशेष पहचान होती है। इस रोग में गर्मी बहुत सताती है और फलस्वरूप प्यास भी खूब लगती है। अत. प्यास से व्याकुल होकर चूहे अपने बिलों से बाहर निकल आते हैं और खुले स्थान पर ही अधिकतर मरते हैं। यदि घर में या आस पड़ोस में कोई चूहा इस प्रकार मरे तो उसकी डाक्टरी परीक्षा अस्पताल भेजकर करवा लेनी चाहिये। इससे यह निश्चय हो जायगा कि वह प्लेगग्रस्त है अथवा नहीं। ऐसे चूहे को कभी यों ही कूड़े पर न फेंक देना चाहिये। उसके ऊपर मिट्टी का तेल डालकर उसे जला देना ही उचित है। जिस स्थान पर चूहा मरा हो उस स्थान को फिनायल से धो डालना

चाहिये। यदि चूहे के प्लेग-ग्रस्त होने का निश्चय हो जाय तो तुरन्त उस मकान को छोड़कर शहर से बाहर किसी खुले स्थान पर चले जाना चाहिये। इसी समान तथा बाहर से अन्दर आने के द्वार के आस-पास और भांडार-घर आदि के कोनों में चूना डाल देने से भी पिस्सुओं के आने की सम्भावना नहीं रहती।

यदि शहर में संक्रामक रूप से प्लेग फैले तो सर्वोत्तम उपाय शहर से बाहर चले जाना है। साथ ही प्लेग का टीका भी अवश्य लगवा लेना चाहिये। टीका लगवाने के उपरान्त भी किसी प्लेग के रोगी के पास या उसके घर नहीं जाना चाहिये। अपने घर के द्वार पर तथा अन्य अंधेरे कोनों में चूना डलवाना चाहिये। घर और बाहर की सफाई का पूरा ध्यान रखना चाहिये। यदि मकान दो मंजिला हो तो ऊपर की मंजिल में ही रहना चाहिये। पिस्सू एक फुट से अधिक ऊपर नहीं उछल सकते। अत उनके दूसरी मन्जिल पर पहुँचने की सम्भावना नहीं रहती। पिस्सू प्रायः पैर में ही काट पाते हैं। अतः पैरों में मोजा पहने रहने से भी इनके आक्रमण से बचा जा सकता है। घर में गन्धक या अन्य कोई दुर्गन्धयुक्त विसंक्रामक जलाकर भी पिस्सुओं को नष्ट करना चाहिये। शहरों की म्यूनिसिपैलिटी की ओर से भी ऐसे समयों पर गैस या दवाओं द्वारा मकानों के विसंक्रमण का प्रबन्ध रहता है। अत. इस प्रबन्ध से भी प्रत्येक नगरनिवासी को लाभ उठाना चाहिये।

शहर में इस रोग को संक्रामक रूप में फैलने से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि सब रोगियों को शहर के किसी एक एकान्त भाग में रखकर उनकी चिकित्सा की जाय। इसके अतिरिक्त शहर भर की सफाई तथा सब घरों के विसंक्रमण का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये। चूहों को पकड़वाने और मार कर जलवाने का प्रबन्ध भी शहर की म्यूनिसिपैलिटी को करना चाहिये। इन सब बातों का ध्यान रखने से शहर में रोग संक्रामक रूप में फैलने से रोका जा सकता है।

काला अजार (kala-azar)

लक्षण और रूप—काला अजार एक भयानक रोग है। इस रोग के होने पर बहुत ही कम लोग अच्छे हो पाते हैं। इस रोग का आरम्भ तेज ज्वर से

होता है जो प्राय: कई सप्ताह तक चलता है। साथ ही यकृत और तिल्ली बहुत बढ़ जाते हैं। कुछ सप्ताह के बाद ज्वर उतर जाता है। किन्तु थोड़े दिनों में फिर चढ़ आता है। इस प्रकार आरम्भ की दशा में ज्वर थोड़े-थोड़े दिनों तक रह कर उतर जाता है। किन्तु जब रोग पुराना पड़ जाता है तब ज्वर बराबर बना रहता है। शरीर भर में स्थान-स्थान पर पीड़ा होती है। शरीर में रक्त की कमी हो जाती है क्योंकि इस रोग के जीवाणु रक्त चूस कर ही पनपते हैं। शरीर का रंग काला पड़ने लगता है और साथ ही शरीर दिनोंदिन सूखता जाता है। रोग अधिक बढ़ने पर आँतों में घाव हो जाता है और खून की पेचिस होने लगती है। रोग की यह अन्तिम और घातक अवस्था होती है। इस अवस्था पर पहुँच कर शायद ही कोई भाग्यशाली बचता हो।

रोग के जीवाणु—इस रोग के जीवाणु लाइश्मेनिया डोनोवानी (leishmania donovani) कहलाते हैं। ये एक सेल वाले छोटे जीव होते हैं और इनकी सेलें गोल या अंडाकार होती हैं। मनुष्य के शरीर में पहुँच कर ये रुधिर द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँच जाते हैं। ये रक्तनलियों की सेलों तथा यकृत और तिल्ली की सेलों में रहते हैं और वहीं इनकी वृद्धि होती है।

रोग का संवहन—इस रोग के जीवाणुओं के फैलने के साधन के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मतभेद है। ये जीवाणु मच्छर, खटमल तथा कुछ अन्य छोटे कीडों में पाये जाते हैं। इससे कुछ लोगों का यह अनुमान है कि इन्हीं कीड़ों के काटने से ये जीवाणु मनुष्यों के रक्त में पहुँचते हैं, किन्तु यह विचार अभी पूर्णत: प्रमाणित नहीं हो सका है।

दूसरा विचार यह है कि कुत्तों के शरीर पर रहने वाली मक्खी इस रोग को फैलाती है। अन्य कुछ लोगों का विश्वास है कि हैजे की भाँति यह रोग भी भोजन और पानी द्वारा फैलता है।

सम्प्राप्तिकाल—इस रोग के जीवाणु के शरीर में पहुँचने के बाद रोग के लक्षण उत्पन्न होने में १ से २ सप्ताह तक लग जाते हैं।

रोगक्षमता—इस रोग के विरुद्ध किसी में भी रोगक्षमता नहीं होती। कृत्रिम रूप से रोगक्षमता उत्पन्न करने का भी कोई साधन अभी ज्ञात नहीं हुआ है।

रोग से बचने के उपाय—इस रोग से बचने के लिए सर्वोत्तम साधन सब प्रकार की सफाई का पूरा ध्यान रखना है। इसके अतिरिक्त रोगियों को शहर के एकान्त भाग में अलग कर उनका उपचार करने का प्रबन्ध होना चाहिए। रोगी के कुटुम्बियों के साथ भी मिलना जुलना ठीक नहीं, क्योंकि संभव है उन लोगों के शरीर में भी इस बीच में रोग के जीवाणु प्रवेश कर चुके हों। अतः रोगी के कुटुम्बियों को भी कुछ समय अलग रखना चाहिए। रोगी तथा स्वस्थ मनुष्यों को मच्छरों आदि के काटने से बचाना चाहिए। कुछ मच्छर इतने छोटे होते हैं कि मसहरी के छिद्रों में से प्रवेश कर जाते हैं। अतः मसहरी के ऊपर यूक्लिपटस जैसा तीव्र गंधयुक्त तेल या फार्मेलीन आदि कोई विसंक्रामक घोल छिड़क देना चाहिए। ऐसा करने से किसी भी प्रकार के कीट-पतिंगे व मच्छर आदि नहीं आयेंगे और उनके काटने से रक्षा हो जाएगी। इस रोग के उपचार के लिए ऐनटीमनी (antimony) धातु के यौगिक प्रयोग में आते हैं।

कुष्ट रोग (leprosy)

कुष्ट रोग प्रायः सभी देशों में सब समय में पाया जाता रहा है। यह अत्यन्त संक्रामक रोग है। जिसे एक बार यह रोग हो जाता है उसका इससे छुटकारा होना प्रायः असंभव ही होता है। इसमें शरीर में धब्बे-धब्बे से हो जाते हैं जो प्रायः रोग बढ़ने के साथ-साथ घावों के रूप में बदल जाते हैं। यह इस रोग की अत्यन्त कष्टदायक अवस्था होती है। यह रोग प्रायः १० से तीस वर्ष की अवस्था वालों को ही होता है। १० वर्ष से पहले अथवा ३० वर्ष के बाद इस रोग के जीवाणु बहुत ही कम लोगों पर अपना प्रभाव जमा पाते हैं।

रोग का कारण—यह रोग बैसिलस लेपरो (bacillus lepræ) नामक जीवाणु के कारण होता है। यह जीवाणु तपेदिक के जीवाणु से कुछ कुछ मिलता-जुलता है। रोगी की नाक से बहने वाले स्राव में ये जीवाणु उपस्थित रहते हैं।

शरीर के धब्बे जब पक कर घाव में परिवर्तित हो जाते हैं तो उनमें भी ये जीवाणु प्रधान मात्रा में पाये जाते हैं।

रोग का संवहन—बालक में इस रोग का संवहन कैसे होता है यह अभी तक पूर्णतः निश्चित नहीं हो सका है। लोगों का विश्वास है कि रोगी के सम्पर्क में आने से अथवा उसके वस्त्र आदि का उपयोग करने से इस रोग के जीवाणु स्वस्थ शरीर में प्रवेश करते हैं। मक्खियाँ भी कुछ सीमा तक इस रोग को फैलाने में भाग लेती हैं। यह विश्वास कि इस रोग से पीड़ित माता पिता के बच्चों को भी यह रोग अवश्य होता है ठीक नहीं है। यह रोग वंशपरम्परा से होने वाला रोग नहीं है। जन्म के समय बालक पूर्ण स्वस्थ होता है और यदि उसे रोगी माता पिता से दूर स्वच्छ व स्वस्थ वातावरण में रखा जाय तो वह पूर्ण निरोग रहेगा। रोगी माता पिता के साथ रहने से बालकों को रोग लग जाता है।

गन्दगी, सीलयुक्त गर्म जलवायु तथा निर्धनता इस रोग के फैलाने में सहायक होते हैं। भोजन में विटामिनों की कमी अधिक समय तक रहने से शरीर की शक्ति कम हो जाती है और उस अवस्था में ऐसे रोग अति शीघ्र अपना शासन जमा लेते हैं।

सम्प्राप्तिकाल—इस रोग का सम्प्राप्तिकाल काफी लम्बा होता है और कभी-कभी ५-७ वर्ष बाद भी रोग होता देखा गया है।

रोग से बचने के उपाय—सर्वप्रथम साधन तो स्वच्छता से रहना तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पालन करना है। इसके अतिरिक्त रोगी को सबसे अलग रखना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने से रोग फैलने की सम्भावना कम हो जाती है। अब प्रत्येक प्रान्त में ऐसे रोगियों के लिए चिकित्सालय होने चाहिए। जितने भी रोगी प्रान्त भर के हों उन्हें वहाँ रखकर उनकी चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। जो लोग रोगी को अलग भेजने के भय से रोग को छिपाना चाहें उनको कुछ दण्ड मिलना चाहिए। ऐसे रोगियों को अलग करने के साथ-साथ उनके परिवार वालों को भी उचित देखभाल में लगभग ५ वर्ष तक रखना चाहिए। सम्प्राप्तिकाल की इस अवधि के बीच में यदि किसी में

नहीं लाना चाहिये। धूल आदि के कणों के साथ गन्दगी पहुँचने से भी रोग होता है। अतः आँखों की स्वच्छता का पूरा ध्यान रखना चाहिये। नित्यप्रात ठंढे जल से नेत्रों को धोकर स्वच्छ रखना चाहिये। कहीं बाहर से आने के उपरान्त हाथ मुँह धोते समय ठंढे जल के छींटों द्वारा नेत्रों को भी धो डालना चाहिये। फिटकरी, बोरिक एसिड अथवा त्रिफले के जल से नेत्र धोना अधिक लाभप्रद होता है। यदि सब बातों का ध्यान रखने पर भी आँखें उठ आयें तो तुरन्त किसी योग्य चिकित्सक से उनका उपचार करवाना चाहिये। आँखों के सम्बन्ध मे एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करना चाहिये, क्योंकि आँखों की ज्योति नष्ट हो जाने से मनुष्य का जीवन असह्य और निरर्थक होता है।

खुजली

त्वचा की स्वच्छता का ध्यान न रखने से प्रायः खुजली हो जाती है। कभी तो हाथों व कलाइयों आदि स्थानों पर ही खुजली होती है, पर कभी कभी यह समस्त शरीर पर फैल जाती है।

रोग का रूप और लक्षण—खुजली उत्पन्न करने वाले कीड़े बहुत ही छोटे होते हैं। किसी अस्वच्छ वस्तु द्वारा अथवा किसी खुजली के रोगी के सम्पर्क में आने से जब ये कीड़े हमारे शरीर पर पहुँचते हैं तो साधारणतः हाथों की अगुलियों व कलाई पर त्वचा काट कर अपने लिये निवास स्थान बना लेते। वहीं ये अडे देते हैं और इस प्रकार इनकी वृद्धि होती है। इनके इधर उधर चलने से ही खुजली मालूम होती है। रात्रि में सोते समय त्वचा शुष्क और गर्म रहती है। अतः उस समय ये बाहर निकल कर त्वचा के ऊपर रेंगते हैं जिसके कारण रात्रि में खुजली खूब मालूम पड़ती है। खुजलाने के फलस्वरूप त्वचा पर छोटे छोटे घाव से हो जाते हैं। इनके पक जाने से कष्ट अधिक बढ़ जाता है।

रोग का संवहन—यह अत्यन्त सक्रामक रोग है। घर में एक प्राणी को खुजली हो जाने पर अन्य लोगों का इसकी छूत से बचना कठिन हो जाता है।

सक्रामक काल—इसका सक्रामक काल २ से ४ दिन तक होता है।

उपचार—इसके प्रतिविष (antitoxin) से एक इजेक्शन देने की दवा बनाई गई है। इसके इजेक्शन तुरन्त मिल जाने से रोगी के बच जाने की सम्भावना होती है।

बचने के उपाय—टेटनस के जीवाणु मिट्टी में मिले रहते हैं और शरीर के घाव पर मिट्टी लगने से जीवाणुओं के शरीर में पहुँचने की सभावना रहती है। अतः इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि शरीर में किसी भी स्थान पर कितना भी छोटा घाव क्यों न हो उस पर मिट्टी न लगने पाये।

कान बहना (discharge from ear)

कान बहना प्राय. छोटे बच्चों में अधिक पाया जाता है। कान कई कारणों से बहने लगता है। कर्णनली में किसी प्रकार की फुड़िया या चोट हो जाने पर प्रायः उसमे मवाद पड जाया करता है। यह मवाद कान के छेद से बाहर बहता है। इस प्रकार से कान का बहना फुड़िया या चोट के ठीक होते ही बन्द हो जाता है। स्पिरिट में बोरिक एसिड मिला कर उसकी कुछ बूँदें प्रतिदिन कान में डाल देने से कष्ट शीघ्र दूर हो जाता है।

कभी कभी कर्णनली का घाव बढ़ कर मध्य या भीतरी कान तक भी पहुँच जाता है और बहुत कष्ट पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त कभी कभी मध्य कान या भीतरी कान में घाव हो जाता है और उसमें मवाद भरने लगता है। कान के पर्दे के कारण मवाद शीघ बह कर कर्णनली द्वारा बाहर नहीं निकल पाता, किन्तु रोग बढ़ने पर पर्दे से रिस कर मवाद कर्णनली में आ जाता है। रोग बढ़ने पर पर्दा बिल्कुल फट जाता है और मनुष्य बहरा हो जाता है। पर कान के इन रोगों का कोई निश्चित कारण ज्ञात नहीं।

कान बहने पर तुरन्त किसी योग्य चिकित्सक से उपचार करवाना चाहिये।

(७) विसङ्क्रामण क्या है ? दो उदाहरण देते हुये विसङ्क्रामक तथा जीवाणुरोधक में अन्तर बताइये। (सन् १६५२)

(८) संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखो—(१) गलसुआ, (२) मनुष्य का सबसे भयानक शत्रु कीटाणु (germ) है।

(६) उन रोगों के नाम बताइये जो चूहों, मक्खियों और खटमलों द्वारा फैलते हैं। कारण, संक्रामण विधि (manner of infection), लक्षण तथा रोकने के उपाय बताते हुये किसी एक का वर्णन कीजिये। (सन् १६५३)

(१०) उन रोगों के नाम बताओ जो वायु द्वारा फैलते हैं। उनमें से एक का कारण, संक्रामक विधि, लक्षण और रोकने के उपाय बताते हुये वर्णन करो। (सन् १६५३)

(११) संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखो—(१) कीटाणु-नाशक पदार्थ और उनका प्रयोग (२) बहरेपन के कारण। (सन् १६५३)

(१२) फैलने वाले रोग कौन कौन से हैं ? ये कितने प्रकार से फैलते हैं ? इनके फैलने को रोकने के लिये आप क्या क्या उपाय काम में लायेंगी ? (सन् १६५३)

(१३) निम्नलिखित रोगों में से किन्हीं दो के कारण, लक्षण तथा उपचार लिखिये—
एन्टेरिक ज्वर, टेटनस, मलेरिया, अतिसार। (सन् १६५३)

हाईस्कूल परीक्षा १९५४ गृहविज्ञान (मुख्य)

प्रथम (प्रश्न पत्र)

(१) हृदय (heart) की सरचना (structure) तथा कार्य (work) का वर्णन विस्तारपूर्वक लिखो और चित्र खींचो।

(२) ग्रन्थियाँ (glands) कितनी प्रकार की होती हैं, और क्या काम करती हैं ? उदाहरण देकर समझाओ।

(३) चेता-प्रणाली (वात सस्थान, nervous system) के मुख्य भाग और उनके कार्य बताओ।

(४) जल में साधारणतया पाई जाने वाली अशुद्धियाँ (impurities) बताओ। घरों में जल किस प्रकार सुगमता से शुद्ध (purify) किया जा सकता है ?

(५) विटैमिन्स (vitamins) पर संक्षेप में एक लेख लिखो।

(२) वृक्क (गुर्दे, kidney) की सरचना (structure) को एक चित्र की सहायता से समझाइये। हमारे शरीर में गुर्दे का क्या काम है ?

(३) अपने लिये स्वास्थ्यप्रद (heathy) मकान बनवाते समय किन-किन बातो को ध्यान में रखना चाहिये ?

(४) सक्रामक रोग (infectious diseases) का क्या अर्थ है ? सकामक रोग किस तरह फैलता है ? हम इसे फैलने से कैसे रोक सकते हैं ?

(५) व्यायाम (exercise) की क्या उपयोगिता (utility) है ? व्यायाम करने का सबसे उपयुक्त समय (suitable time) कौन सा है ?

(६) विटामिन्स (vitamins) कितने प्रकार के होते हैं ? उनकी कमी से शरीर को क्या क्या हानियाँ पहुँचती हैं ?

(७) प्लेग (plague) का रोग कैसे फैलता है ? इस रोग के लक्षण symptoms) और उपचार (treatment) लिखिये।

(८) निम्न में से केवल तीन पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—

(क) प्लीहा (spleen)।

(ख) श्वेत रक्त कण (white blood corpuscles)।

(ग) शय्या क्षत (बेड सोर, bepd-sore)।

(घ) रक्तबन्ध (टूर्निके, tourniquet)।

हाई स्कूल परीक्षा १९५५

गृह-विज्ञान तथा सिलाई (मुख्य), प्रथम प्रश्नपत्र

१—मेरु-दण्ड (vertebral column) के मुख्य कार्य तथा बनावट का वर्णन कीजिये। मेरु-दण्ड एक ठोस लम्बी हड्डी न होकर क्यों छोटी-छोटी हड्डियों से बना हुआ है ?

२—मलोत्सर्ग के अग (excretory organs) कौन-कौन से हैं ? उनमें से किसी एक का वर्णन कीजिये।

३—श्वसन (respiration) किसे कहते हैं ? इस क्रिया का वर्णन चित्र की सहायता से कीजिये।

४—वायु किस प्रकार अशुद्ध (impure) हो जाती है ? वायु को शुद्ध (pure) तथा स्वास्थ्यवर्द्धक रखने की प्राकृतिक (natural) तथा कृत्रिम (artificial) विधियाँ क्या हैं ?

५—भोजन में शरीर की वृद्धि करनेवाले (body building) तथा ताप प्रदान करनेवाले अवयव (constituents) कौन कौन से हैं ? उनका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

६—निम्नलिखित में से किसी एक रोग का कारण, लक्षण तथा उपचार विस्तार पूर्वक लिखिये —

धनुर्वात (हनुस्तम, tetanus) या गलसुआ (mumps), ।

७—किन्हीं चार के उत्तर दीजिये —

(क) तरुणास्थि (cartilage) का काम क्या है ?

(ख) ऐच्छिक तथा अनैच्छिक मांसपेशियों (voluntary and involuntary muscles) में क्या अन्तर है ?

(ग) यकृत (liver) क्या काम करता है ?

(घ) मसालों (condiments) से क्या हानि-लाभ है ?

(ङ) व्यायाम (exercise) करना क्यों आवश्यक माना जाता है ?

(च) तैल ग्रन्थियाँ (oil glands) शरीर में कहाँ पाई जाती हैं ? और क्या काम करती हैं ?

शब्द कोष

अस्थि bone
अस्थि-स स्थान skeletal system
अस्थि-पजर skeleton
अतिसार diarrhoea
अग्रबाहु fore arm
अग्रचवर्णक premolar
अनुजवास्थि fibula
अनैच्छिक मासपेशियाँ involuntary muscles
अपनी स्वच्छता personal hygiene
अश्रु tears
अर्द्ध चन्द्राकार नलियाँ semi circular canals
अक्षतन्तु axon
अचल immoveable
अन्तरीय पटल retina
अंकुर papillae
अग organ
अत क्षोभ emotion
अत प्रकोष्ठ अस्थि ulna
अतावरण piamater
अत्ररस intestinal juice
अंत्रज्वर enteric fever
अध विन्दु blind spot
अँगुलियाँ fingers
आकार विज्ञान anatomy
आमाशय stomach
आमाशयिक रस gastric juice
आडे ढंग से transversally
आँख उठना या आँख दुखना sore eyes
आँत intestines
उच्च महाशिरा superior vena cava
उत्पादक स स्थान reproductory system
उदर abdomen
उन्नतोदर convex
उपतारा iris
उपचर्म epidermis
उपचुल्लिका ग्रन्थि parathyroid gland
उपवृक्क ग्रन्थियाँ suprarenal or adrenal glands
उर्वस्थि femur
ऊपरी बाहु upper arm
एडी heel
ऐच्छिक मासपेशियाँ voluntary muscles
आक्सीकरण oxidation
कपाट valve
कमर का झुकाव lumber curve
कलाई wrist
कलाई की हड्डियाँ carpus
कब्जेदार जोड़ hinge joint
क्लोम pancreas

क्लोम रस pancreatic juice
कनीनिका cornea
कशेरुका vertebra
कशेरु कंटक neural spine
कंधा shoulder
कंधे की हड्डी shoulder blade or scapula
कमर का झुकाव dorsal curve
कंठकर्ण नली eustachian tube
कंडरा tendon
कन्द मूल roots and tubers
कर्ण पटल ear drum
कर्ण कुटी vestibule
कनफेर mumps
कान बहना discharge from ear
कुष्ठरोग leprosy
कुकुर खाँसी whooping cough
कूल्हा hip
केन्द्र nucleus
केन्द्रीय नाड़ी मंडल central nervous system
केशिका capillary
कोकला chochlea
कोष्ठबद्धता constipation
क्रमिवत् आकुंचनगति peristaltic movement
कृत्रिम artificial
खसरा measles
खनिज नमक mineral salts
खुरंड scales
खुजली itch
खूँटेदार जोड़ pivot joint
खोपड़ा skull
खोपड़ा का पश्चात हड्डी के उभार occipital condyle
गतिवाही नाड़ी efferent or motor nerve
गर्दन का झुकाव cervical
गले का रोग sore throat
गरिष्ठ खाद्य condensed food
गन्धक sulphur
गंड ganglion
ग्राहक कोष्ठ auricle
गात्र centrum
गिल्टी gland
गुर्दा kidney
गुर्दे की धमनी renal artery
गुर्दे की शिरा renal vein
गेंद और प्यालेनुमा जोड़ ball and socket joint
गेंडुली coil
घनाकार cubical
घ्राणेन्द्रिय organ of smell
घेर neural arch
चल movable
चर्म dermis
चर्वणक molar
चर्बी fat
चिकित्सागृह sanatorium
चीनी मिट्टी porcelain
चुल्लिका ग्रन्थि thyroid gland
चूलदार जोड़ hinge joint

चेचक small pox
चेष्टावन्त movable
छन्ना कागज filter paper
छाती की हड्डी breast bone or sternum
छानना filtration
छिद्रयुक्त porous
छोटी माता chicken-pox
जबड़ा jaw
जलरस aqueous humour
जलकोष aqueous chamber
जन्तु विज्ञान zoology
जीव विज्ञान biology
जीवन शक्ति vitality
जीवाणु bacteria
जीवाणु नाशक disinfectant
जीवाणु रोधक antiseptic
जीवाणु रहित करना sterilisation
जीवाणुवाहक carrier
जेलीरस vitreous humour
जोड़ joint
जंघास्थि tibia
जाँघ thigh
जाँघ की हड्डी thigh bone, femur
टखना ankle
टखने की हड्डियाँ tarsus
ट्यूबदार कुआँ tube well
टान्सिल बढ़ना tonsilitis
टेढ़ापन squint
टीका vaccination
नासिका नली nose cavity
टीके की दवा vaccine
टेंटुआ windpipe or trachea
डेला cornea
ढाँचा frame
त्वचा skin
तन्तु fibre
तलुवे की हड्डी metatarsus
तपेदिक tuberculosis
ताऊन plague
ताल lens
तलुआ palate
तिल्ली spleen
दन्तकोष्ठ pulp cavity
दन्तमज्जा pulp
दूर दृष्टि का रोग long-sightedness
दृष्टि नाड़ी optic nerve
दृष्टि केन्द्र optic centre
दृश्येन्द्रिय organ of sight
धड़ trunk
धमनी artery
धीरे छानने वाला तालाब slow filteringtank
नतोदर concave
नथुने nostrils
नब्ज या नाड़ी pulse
नलाहीन ductless
नाड़ी nerve
नाड़ी सेल nerve cell
नाड़ी संस्थान nervous system
नाड़ी स्पन्दन स्थान pressure point
पित्ताशय gall-bladder

नासिका रंध्र nostrils
निकटदृष्टि का रोग short-sightedness
नितम्ब अस्थि hip girdle
नेहाई *anvil*
पसलियाँ ribs
पपड़ी scales
पर्दा flap
पक्ष्म eye lashes
पक्वाशय duodenum
पक्वाशय द्वार pylorus
परिधीय नाड़ी मंडल peripheral nervous system
पशुचिकित्सा विभाग vaterinary department
पगदंड shank
प्लीहा spleen
प्रसार relaxation
प्रपाद foot
प्रगंड अस्थि humerus
प्रतिविष antitoxin
प्रणाली system
प्रथम ग्रीवा कशेरुका atlas
प्राणि विज्ञान biology
प्राकृतिक natural
पारदर्शक transparent
पार्श्वप्रवर्धन transverse processes
पित्त bile
पित्तनली bileduct
मलाशय rectum
मींगी nucleus
पिस्सू flea
पीतबिन्दु yellow spot
पुतली pupil
पुच्छास्थि coccyx
पोर phalanges
पोषक संस्थान digestive system
प्रोटीन वाले पदार्थ nitrogenous matter
फिसलने वाले जोड़ sliding joint
फुफ्फुसीय धमनी pulmonary artery
फुफ्फुसीय शिरा pulmonary vein
फुफ्फुसावरण pleura
फेफड़े lungs
फोड़ा abcess
बन्धक तन्तु tendon
बहरापन deafness
बाह्यकान outer ear
बाह्यआवरण duramater
बहि प्रकोष्ठ अस्थि radius
बुद्धि दाढ़ wisdom tooth
भोजन नली gullet
भोजन प्रणाली alimentary canal
भौतिक physical
मज्जानली marrow, cavity
मस्तिष्क घर cranium
मध्यपटल choroid
मध्यकान middle ear
मल पदार्थ *waste matter*
लघुमस्तिष्क cerebellum
लचीला elastic, flexible

मुग्दर hammer
मूल root
मूल धमनी aorta
मूत्र प्रणाली ureter
मूत्र मार्ग urethra
मूत्राशय bladder
मोतीझला typhoid
माँसतन्तु muscle fibre
मांससंस्थान muscular system
यकृत liver
यकृत की शिरा protal vein
यकृत की धमनी portal artery
रकाब stirrup
रक्त blood
रक्तनली blood vessel
रक्तसंस्थान circulatory system
रक्तकण blood corpuscles
रक्तवारि plasma
रक्तपरिभ्रमण circulation of blood
रस secretion
राजयक्ष्मा tuberculosis
रासायनिक chemical
रीढ़ की हड्डी vertebral column
रीढ़ नली neural canal
रोगक्षमता immunity
रोग प्रवृत्ति predisposition to disease
रोग का दुबारा उमड़ना relapse
रोगी को एकान्त में रखना isolation
सन्तुलित भोजन balanced diet
सम्प्राप्तिकाल period of incubation

लटकने वाली पसलियाँ floating ribs
लम्बान से longitudinally
लार saliva
लाल रक्तकण red blood corpuscles
वनस्पति विज्ञान botany
वक्षस्थल breast
वक्षोदर मध्यस्थ पेशी diaphragm
वानस्पतिक अम्ल vegetable acid
वायुकोष air sacs
वाष्पीय gaseous
विरुद्ध कृमिवत् आकुंचनगति antiperistaltic movement
विसर्जन संस्थान excretory system
विसंक्रामक पदार्थ disinfectants
विसंक्रामण disinfection
विष toxin
वृहत्मस्तिष्क cerebrum
स्कंधअस्थि shoulder blade or scapula
स्वाद कलियाँ taste buds
स्वादेन्द्रिय organ of taste
स्वादग्रन्थियाँ sweat glands
स्थायी दाँत permanent teeth
स्पर्शसेलें tactile cells
स्पर्शेन्द्रिय organ of touch
स्नायु तन्तु nerve fibres
स्वतंत्र नाड़ी मंडल autonomic or sympathetic nervous system
स्रवण distillation
समतुलन equilibrium

सरसाम meningitis
सहज क्रिया reflex action
सुषुम्ना spinal cord
सुषुम्नाशीर्ष medulla oblongata
सेल cell
संक्रामक infectious
संक्रामकता infection
संकोचन contraction
संधि joint
संस्थान system
संसर्गज contagious
श्वेतपटल sclerotic
शरीर विज्ञान physiology
श्लेष्मा mucous
श्वासनलियां bronchial tubes
श्वासोच्छ्वास संस्थान respiratory system
श्वेतरक्तकण white blood corpuscles
श्वेतपदार्थ white matter

शरीर विज्ञान physiology
शिखर crown
शिरा vein
शीघ्रता से छानने वाले तालाब rapid filter tanks
शोषकांकुर villi
श्रवणेन्द्रिय organ of hearing
हड्डी bone
हथेली की हड्डी metacarpus
हाथ व पैर upper and lower limbs
हैजा cholera
शरीर रचना विज्ञान anatomy
हंसली की हड्डी collar bone or clavicle
हृदयावरण pericardium
हृदय heart
क्षेपक कोष्ठ ventricle
त्रिक अस्थि sacrum